ओ३म्

ऋषि-देव-विवेचन

(वेदो के आधार पर ऋषि व देवताओं का पारस्परिक सम्बन्ध व स्वरूपनिर्धारण)

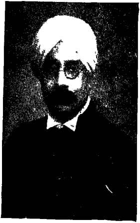
लेखक
श्री भगवद्दत्त वेदालंकार, एम. ए.
वेदानुसन्धानकर्ता एवं सम्पादक—गुरुकुल-पत्रिका

सन् १९६७ | ५०० प्रतियां | मूल्य २.००

प्रकाशक
धर्मपाल विद्यालंकार
प्रशासक : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
कृते वैदिक-अनुसन्धान-विभाग
गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक
जी. आर. पाल
मैनेजर . गुरुकुल कागडी प्रिंटिंग प्रेस, हरिद्वार

संस्थापक-'स्थिरनिधि'



वेदप्रेमी दानवीर श्री पंडित ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य
'अमृतधारा' देहरादून

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक श्री पं० भगवद्दत्त जी ने वेदों के भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेकों खोजपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। अब इनकी 'ऋषि-देव-विवेचन' नामक पुस्तक पाठकों के समक्ष उपस्थित है। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वेदों के सम्बन्ध में ऋषिदेव संबंधी विषयों पर तर्कसंगत ऊहापोह किया है। यह वेदों की समस्याओं को समझने, उनकी गुत्थियों को सुलझाने का एक प्रशंसनीय प्रयत्न है। यह पुस्तक लिखकर श्री पं भगवद्दत्त जी ने वैदिक वाङ्मय पर लिखे गये साहित्य में उपयोगी वृद्धि की है। गुरुकुल के वैदिक अनुसन्धान विभाग की ओर से यह पुस्तक स्वाध्याय-प्रेमी जनता के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है। आशा है पूर्व प्रकाशित रचनाओं के समान इस पुस्तक को अपनाकर वेदप्रेमी जन गुणग्राहकता का परिचय देंगे।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति

उपकुलपति

सन् १९६७ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

दो शब्द

प्रिय पाठक वृन्द !

ऋषि-देव-विवेचन नाम की यह पुस्तिका आपकी सेवा मे प्रस्तुत है । इससे पूर्व वेद के किन्हीं विशिष्ट ऋषियों के स्वरूप-स्पष्टीकरणार्थ हमने 'ऋषि-रहस्य' नामक पुस्तक में अपने विचार अभिव्यक्त किये थे । और 'वेद-विमर्श' नामक पुस्तक मे भी उस विषय का हम किञ्चित् स्पर्श कर चुके हैं । अब इस पुस्तक में हमने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि मानव को ऋषित्व प्रदान करने में देवता किस प्रकार सहायक होते हैं और उनकी कृपा से मनुष्य में क्या परिवर्तन होता है ? यह सब संक्षेप में दर्शाया गया है । और तत्सम्बन्धी वर्णन में देवताओं के विशिष्ट रूप का भी कुछ २ संकेत इसमें हुआ है । यहां पर यह बात ध्यान देने की है कि भिन्न रूचि, भिन्न योग्यता, व शक्ति के कारण प्रत्येक मनुष्य अपने अनुकूल देवता से ही अधिक सहायता प्राप्त कर सकता है । अग्निमय पुरुष सोम से वाञ्छित फल नहीं प्राप्त कर सकते । उनकी अभीष्टतम सिद्धि अग्नि से

ही हो सकती है । इसी प्रकार सौम्य पुरुष 'पवमान सोम' से जितना अधिक लाभान्वित हो सकते हैं उतना अधिक अग्नि से नहीं । हां ! प्रत्येक मनुष्य को घटबढ़ रूप में प्रत्येक देवता से सहायता लेनी ही पड़ती है । अस्तु !

देवताओं की दृष्टि से यह पुस्तिका अग्नि, इन्द्र आदि चार पांच देवताओं से ही सम्बन्ध रखती है । इनके अतिरिक्त अन्य देवता भी ऋषित्व प्रदान करने में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं यह भी विचारणीय है । ऋषि-देव-विवेचन का यह प्रथम पुष्प है, ऐसा हमें समझना चाहिये । इसी प्रकार 'ऋषि-रहस्य' का भी प्रथम-पुष्प प्रकाशित हुआ है । हमें आशा है कि परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से तत्सम्बन्धी अन्य पुष्प भी हम प्रकाशित करने में समर्थ हो सकेंगे ।

यहां यह बात भी स्मरणीय है कि ऋषि देवता के साथ छन्द का भी विवेचन होना चाहिये क्योंकि वेदार्थ में पूर्णता लाने के लिये छन्द का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है । इस तथ्य की ओर हमने 'विष्णु देवता' पुस्तक में

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि छन्दों का विवेचन करते हुए संकेत किया है। इस सम्बन्ध में हमारा यह निवेदन है कि भविष्य में किसी विशिष्ट देवता का स्वरूप-निर्धारण करते हुए जब तत्सम्बन्धी सूक्तों व मन्त्रों का अर्थ किया जायेगा तब इस बात का ध्यान रक्खा जायेगा। वास्तव मे छन्दों का प्राकृतिक घटकों, अधिदैव, अधिभूत व अध्यात्म आदि क्षेत्रों में विनियोजन व स्वरूप-निर्धारण होना आवश्यक है। करने को बहुत कुछ है। वेद का एक २ शब्द इतना व्यापक है कि उसी पर एक विशालकाय ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

अन्त में भगवान् से यह विनम्र प्रार्थना है कि वह हमें शक्ति, सामर्थ्य व दिव्य प्रकाश देवे जिससे कि हम वेदों के रहस्यों को समझने में समर्थ हो सकें।

विनीत

भगवद्दत्त वेदालंकार

विषय-सूची

संख्या विषय — पृष्ठ संख्या

१. वेदों के ऋषि (ऐतिहासिकवाद) — ६
ऐतिहासिक उलझन, अचेतन व तिर्यक् जाति के ऋषि, कर्तृवाद के निराकरण में अन्य युक्तियां ।

२. अर्द्धपौरुषेयवाद — ४१
विरोधपरिहार, अर्द्धपौरुषेय पक्ष मे मन्त्रों का स्पष्टीकरण, शब्द ब्रह्म और वेद, सप्तद्वारों मे व्याप्त वाक्, मन मे निहित वेदत्रयी, वेदों का बीज ओ३म् ।

३. अपौरुषेयवाद — ६६

४. वेदों की अन्तःसाक्षी — ७२
पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि, पुरातन स्तुति और नवीन स्तुति, मन्त्र-कर्तृत्व और मन्त्र-द्रष्टृत्व मे समन्वय, तक्षण का भाव ।

५. देवता ऋषि सम्बन्ध — ८४
वैदिक साहित्य द्वारा भेद-निरूपण, देव और मनुष्य, देव और असुर, देव ऋषि मनुष्य ।

६. अग्नि और ऋषि — ११३
अग्नि द्वारा ऋषित्व की प्राप्ति, अग्निदेवता,

प्राण मे अग्नि, मन मे अग्नि, बुद्धि मे अग्नि, दिव्य अग्नि, देवों का दूत, अथर्वऋषि द्वारा अग्निमन्थन, अग्नि मे तेजस्विता (दध्यङ्-ऋषि), वाणी द्वारा अग्नि-प्राप्ति, ऋषि को अग्नि की देन, सब अग्नियां एक ही हैं, अग्नि मे एक और अग्नि प्रविष्ट है।

७. अग्नि-चयन १४५

अग्नि का उत्खनन, आठ मन्त्रो से एक आहुति, सन्तत होम, अषाढा, आहुति साधन वाक् और प्राण, चक्षु सम्बन्धी दिव्य अग्नि का खनन, अश्व, अज, रासभ, अश्व का पूर्व-योग, अग्नि का खनन व उसके साधन ।

८. इन्द्र और ऋषि १६०

अग्नि ही सब देवों का रूप धारण करती है, पुरुहूत इन्द्र, सामुहिक स्तुति, इन्द्र की स्तुति में ऋषियो की स्पर्द्धा, स्तुति में इन्द्र की महिमा, ऋषि ही इन्द्र को प्राप्त कर सकते है, पूर्व ऋषि भी इन्द्र की महिमा न जान सके, इन्द्र का समुद्र सदृश फैलाव, ऋषि ब्रह्म द्वारा इन्द्र की वृद्धि करते है, इन्द्र की देन,

प्रियमेधा ऋषियों की इन्द्र से याचना, अन्न याचना, आयु वृद्धि और सहस्र दान ।

९. सोम और ऋषि-- २१४

पवमान सोम ही ऋषित्व को प्रदान करने वाला है, सोम दिव्य अन्न है, सोम का मार्जन व पवित्रीकरण, सोमात्मक ओज और उसका पवित्रीकरण, सोम ओज का भी सार है, सोम पवित्र (छलनी), आग्नेय पवित्र, आयवः पवित्र, बुद्धि द्वारा सोम का मार्जन व पवित्रीकरण, दशक्षिप, विवस्वतः नप्तीः, दशयोषा, सूर्य की दुहिता ।

१० मरुत् और ऋषि २४२

११ उषा और ऋषि २४८

१२ मेष-वाहन (मेध्यातिथि) २६२

१३ गरुड़ और वालखिल्य ऋषि २६४

१४ सप्तऋषि-- २७३

सप्तऋषि और ब्राह्मी शक्ति, महाभारत मे सप्त ऋषि, वृषादर्भि, वृषादर्भि का पुत्र, यातुधानी पद्मिनी, बिस, शुनःसख, कुत्ता, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, जमदग्नि, भरद्वाज, गोतम, विश्वामित्र, अरुन्धती, पशुसख, गण्डा ।

ओ३म्

ऋषि-देव-विवेचन

(वेदों के आधार पर ऋषि व देवताओं का पारस्परिक सम्बन्ध व स्वरूपनिर्धारण)

गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित 'ऋषि-रहस्य' नामक पुस्तक की भूमिका में संक्षेप में हमने यह दर्शाया था कि अति प्राचीनकाल से वेद के ऋषि महान् विवाद के विषय बने हुये हैं। इनके सम्बन्ध में प्रमुख समस्या यह है कि वेद-मन्त्रों पर जो ऋषि लिखे जाते हैं, बृहद्देवता व सर्वानुक्रमणी आदि में मन्त्रों व सूक्तों के जो ऋषि दिये गये हैं, क्या वे उन सूक्तों व मन्त्रों के रचयिता है? या केवल उनके द्रष्टा ही हैं। इस विवेचनीय विषय के सम्बन्ध में प्रमुखरूप से दो तीन वाद प्रचलित हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

१ ऐतिहासिक।

२ अर्द्धपौरुषेय ।

३ अपौरुषेय ।

इनमें अर्द्धपौरुषेय का भाव यह है कि मन्त्र-निहित ज्ञान तो भगवान् का है, पर मन्त्र-संगठना, मन्त्र में शब्दविन्यास आदि ऋषिकृत् है । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यह वाद भी ऐतिहासिक वाद के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है । एक प्रकार से ऋषियों के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो ही वाद समझने चाहियें । इन दोनों वादों के पक्ष-विपक्ष में विद्वानों द्वारा बहुत कुछ लिखा गया और अब भी लिखा जा रहा है । जिस प्रकार अपौरुषेय-वादी स्वपक्ष के मंडन व परपक्ष के खण्डन में परि-मार्जित व प्रबलतर नवीन युक्तियां व प्रमाण सामने ला रहे हैं, उसी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिकोण वाले विद्वान् भी स्वपक्ष-पोषण में नयी से नयी युक्तियां व प्रमाण सामने लाते हैं और इस प्रकार अपौरुषयवादियों के पाश-बन्धन से बचने का उपाय करते रहते हैं । इसकी व्यापक जानकारी के लिये जिज्ञासु पाठकों को दोनों प्रकार के विद्वानों के ग्रन्थों व लेखों का अवलोकन करना चाहिये ।

अब हम यहां इन वादों के प्रत्येक पहलू पर विस्तृत व व्यापक विवेचन न कर अतिसंक्षिप्त टिप्पणी ही प्रस्तुत करते हैं।

ऐतिहासिक वाद

ऐतिहासिकों की मान्यता है कि ऋषि मन्त्रों के रचयिता हैं। इस सम्बन्ध में समय २ पर कई प्रकार के विचार व प्रमाण आदि अभिव्यक्त किये जाते रहे। पर अब प्रमुख रूप से जो प्रमाण व युक्ति वे प्रस्तुत करते हैं, उनको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. प्रथम तो यह कि वेद ऋषियों की रचना है, इस तथ्य का प्रतिपादन स्वयं मन्त्र ही करते हैं। यदि किसी मन्त्र में वेद को भगवान् से उच्छ्वसित माना भी गया है तो वह पश्चात् काल का मन्त्र है, क्योंकि वेदों को इस मौजूदा रूप में आने में बड़ा व्यापक व क्रमिक काल व्यतीत हुआ है।

२. दूसरे वेद के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थादि

अर्वाक्कालीन वैदिक साहित्य को वैदिक समस्याओं के हल में गौणरूप में प्रमाणकोटि में तो रक्खा जा सकता है; परन्तु उनकी मान्यताओं को वेदों पर थोपा नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में उनका कथन यह है कि वैदिक विचार-धारा को अर्वाक् कालीन साहित्य पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि यह साहित्य वेदों की दृष्टि से अत्यन्त अर्वाचीन है।

इसी भांति वेद के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों की अनेकों विचार-धारायें दृष्टिगोचर होती है, जिनका समाधान अपौरुषेयवादियों द्वारा होना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे विचार में भी यदि ऐतिहासिकों की युक्तियों व प्रमाणों का बहुत कुछ समाधान वेद से ही किया जा सके तो वही पूर्ण समाधान हो सकेगा। अन्य ब्राह्मणादि ग्रन्थों व भाष्यकारों को वैदिक तथ्य की पुष्टि में बेशक रक्खें, परन्तु वह तथ्य सर्वप्रथम स्वयं वेद से ही उद्भासित होना चाहिये। अब ऐतिहासिक विद्वान् वेदों के ऐतिहासिकत्व व ऋषियों के मन्त्रकर्तृत्व की पुष्टि में जो प्रमाण प्रस्तुत करते हैं उदाहरणार्थ उनमें से कुछ मन्त्र वाक्य हम यहां उद्धृत करते हैं।

"जो१ पूर्वकाल में ऋषि हो चुके हैं और जो नवीन ऋषि हैं, हे इन्द्र ! उन दोनों प्रकार के मेधावी ऋषियों ने मन्त्रों (ब्रह्माणि) की रचना की है।"

"जिन२ पूर्व ऋषियों की स्तुतियां अब हमने सुनी हैं, वे पुरुषमात्र के हितकारी थे।"

"स्तुति३ करते हुये वे पुरातन कवि।"

"ऋत४ को धारण करने वाले वे पूर्वकालीन कवि निश्चय से देवों के साथ दिव्य आनन्द लूटते थे।"

---

१ ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः। ऋ० ७।२२।६।

२ उतो घा ते पुरुष्या इदासन् येषा पूर्वेषाम-श्रृणोर्ऋषीणाम्॥ ऋ० ७।२६।४।

३ ते चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्तः। ऋ० ७।५३।१।

४ ते इद् देवानां सधमाद आसन् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः। ऋ० ७।७६।४।

"हे१ मित्रावरुणौ ! तुम दोनों के सेवन के लिये जो नये स्तोत्र व मन्त्र (ब्रह्म) बनाये हैं, इनका तुम सेवन करो।"

"हे२ इन्द्राग्नि ! तुम आज इस नवनिर्मित स्तोत्र का सेवन करो।"

उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र-वाक्य हमने यहां उद्धृत किये। इस प्रकार के शतशः वाक्य वेदों में उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर ऐतिहासिक लोग यह सिद्ध करते हैं कि वेद ऋषियों की रचनायें हैं, जिनमें क्रमिक विकास व पूर्वापर भाव दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार मन्त्रगत इन प्रमाणों के होते हुये ब्राह्मण ग्रन्थ आदि अर्वाक् कालीन वैदिक साहित्य को व किसी भी भाष्यकार को इसके विपरीत

---

१ प्र वां मन्मानि ऋचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ।। ऋ०७।६१।६ ।

२ शुचिं नु स्तोमं नवजातमद्य । ऋ०७।९३।१ ।

प्रमाण रूप में प्रस्तुत करना ऐतिहासिकों की दृष्टि में नगण्य है।

दूसरे जिन मन्त्रों में वेदों को भगवान् से उच्छ्वसित माना है, ऐतिहासिकों की दृष्टि में उसके निम्न दो समाधान हो सकते हैं।

१. यह मानव स्वभाव है कि मनुष्य अपने सर्वोच्च धार्मिक ग्रन्थ को पवित्रतम व अपौरुषेय मानने लगते हैं। इसी कारण कुरान, बाईबिल आदि धार्मिक ग्रन्थ उनके अनुयायियों द्वारा निर्भ्रान्त,अलौकिक व अपौरुषेय माने जाने लगे। यही भावना व यही प्रयत्न अन्य सब सम्प्रदायों में हमें दृष्टिगोचर होता है। इसी स्वभाव के वशीभूत पश्चाद् भावी भारतीय ऋषियों व भाष्यकारों ने भी वेदों को अपौरुषेय माना। इसलिये ऐतिहासिकों का यह कहना है कि जिन मन्त्रों में वेदों को भगवान् का निःश्वास व उच्छ्वास माना है, वे वेदों के निर्माण-काल में बहुत पीछे के हैं और अगाध व अटूट श्रद्धा के परिणाम हैं।

२. ऐतिहासिकों द्वारा इसका दूसरा समा-

धान अर्द्धपौरुषेय पक्ष को मानकर किया जाता है। उनका इस सम्बन्ध में यह कहना है कि यदि मन्त्रों के आधार पर हम यह मान भी लेवें कि वेद भगवान् के उच्छ्वास है तो भी इसका इतना ही तात्पर्य है कि मन्त्रों में निहित ज्ञान तो भगवान् का है, पर मन्त्र-रचना अर्थात् मन्त्रों में शब्दविन्यास आदि ऋषियों का अपना है। कई विद्वानों की ऐसी ही मान्यता है। इससे इनके मत मे वेद भगवान् के ज्ञान भी है और उनकी ऐतिहासिकता भी अक्षुण्ण बनी रहती है।

ऐतिहासिक उलझन

ऐतिहासिक उलझनें कई प्रकार की हैं। यथा सूक्त व मन्त्र के ऋषि से मन्त्र का पूर्ववर्ती सिद्ध हो जाना, सूक्त व मन्त्र के ऋषियों के समकालीन व्यास, जैमिनि आदि अन्य ऋषियों द्वारा वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करना इत्यादि-उलझनों के और भी कई प्रकार-भेद हो सकते हैं। कहीं तिथिभेद की अड़चन है, कहीं ऋषिभेद सामने आ खड़ा होता है, कहीं वर्णनों में विपरीतता आदि दृष्टिगोचर

होती है । इसी प्रकार की अनेकों अड़चनें सामने आ खड़ी होती है । प्रश्न यह है कि ये उलझनें व अड़चनें क्यों पैदा होती हे ? ऐतिहासिकों का इस सम्बन्ध में एक ही उत्तर है और वह यह कि पूर्व काल में भारतीय साहित्य मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण का न होना । तिथि के आधार पर जो उलझनें पैदा होती हैं, उसके सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का ह्विटनी के शब्दों में यह कहना कि—

"All dates given in indian literary history are pins set up to be bowled down again".

अर्थात् भारतीय साहित्य की सम्पूर्ण ऐतिहासिक तिथियां पत्ते में तरतीबवार जड़े हुये उन पिनों के सदृश है, जिन्हें कि उखाड़ कर फिर नये सिरे से जड़ना होगा ।

विण्टरनिट्ज के शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि "प्राचीन भारतीय साहित्य को कोई निश्चित तिथिक्रम देना ही नहीं चाहिये ।"

इस प्रकार ऐतिहासिकों की दृष्टि में सम्पूर्ण

प्राचीन भारतीय साहित्य की कोई निश्चित तिथि नहीं है, इसलिये ऋषियों की भी तिथियां निश्चित नहीं हैं। दूसरे एक ही नाम के अनेकों १ऋषि वेद व वेदोत्तर-कालीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं। जहां कि व्यास, जैमिनि, याज्ञवल्क्य वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि कई २ हैं। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का कहना यह है कि महाभारत व पुराण आदि अर्वाचीन साहित्य में वर्णित किसी ऋषि से मन्त्र को पूर्ववर्ती सिद्ध कर देना–कर्तृवाद का खण्डन नहीं है इससे यही सिद्ध होगा कि उस ऋषि से मन्त्र पूर्व का है और वह ऋषि मन्त्रकर्ता ऋषि नहीं है।

कुछ समय हुआ ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान् के साथ विचार विनिमय करते हुये एक ऐतिहासिक उलझन सामने आयी। और वह यह कि इक्ष्वाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्र व रोहित का एक स्वरूप महाभारत व पुराण आदि में देखने को

---

१ वैदिक वाङमय का इतिहास' रचित श्री पँ० भगवद्दत्त जी बी० ए०।

मिलता है, जिसमें कि राजा हरिश्चन्द्र का चरित्र बहुत ऊंचा दिखाया गया है। वह सत्यवादी है, दृढ़प्रतिज्ञ है, धर्मात्मा है। इस प्रकार सत्पुरुष में जो उत्कृष्ट गुण होने चाहियें वे सब उसमें दृष्टिगोचर होते हे। उसका राजपाट चला जाता है, ऋण पूरा चुकता नहीं तो ऋण से उऋ्रण होने के लिये वह शूद्र के घर बिकता है। इसी प्रकार इक्ष्वाकु-वंशीय राजा हरिश्चन्द्र व रोहित का एक दूसरा रूप भी है, जो कि पूर्वरूप से बिल्कुल विपरीत है। और वह ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप के प्रकरण में आता है। जहां कि उस राजा हरिश्चन्द्र के १०० रानियां हं, पर किसी से पुत्रोत्पत्ति नहीं होती। वरुण देव से पुत्रप्राप्ति की प्रार्थना की जाती है। वे देव इस शर्त पर पुत्र देते है कि उस पुत्र की मुझ पर बलि चढ़ानी होगी। शर्त स्वीकार की जाती है। पुत्र पैदा होता है और 'रोहित' नाम रक्खा जाता है। वरुण भगवान् बलि लेने आते हैं। राजा हरिश्चन्द्र अपने वचन से डिग जाते है। वरुण भगवान् से बहाना बनाते है और उन्हें लौटना पड़ता है। इस भांति कई बार बहाना बनाकर उन्हें लौटाते हैं। अन्त में

कोई बहाना न मिलने से रोहित जंगल में भाग जाता है। और राजा हरिश्चन्द्र को वरुण के शाप से जलोदर हो जाता है। अब विचारणीय यह है कि इन दोनों परस्पर विरोधी कथानकों का समन्वय कैसे हो? एक ओर तो सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ हरिश्चन्द्र है और दूसरी ओर विषयलोलुप, असत्यवादी और प्रण पूरा न करने वाला दुनियादार आदमी। यह एक ऐतिहासिक उलझन है। इस सम्बन्ध में मेरा हल तो यह था कि ऐतरेय ब्राह्मण का यह कथानक आलंकारिक है। उत्पत्तिशास्त्र में इसका स्पष्टीकरण हो सकता है। पर उस ऐतिहासिक विद्वान् ने इसके दो परिणाम निकाले।

१. एक तो यह कि समय के व्यवधान से ये राजा हरिश्चन्द्र दो विभिन्न व्यक्ति हो सकते हैं।

२. दूसरा यह कि यदि ऐतरेय ब्राह्मण के कथानक को आलंकारिक मानें तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि महीदास ऐतरेय में ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं था। उसे इतना भी न सूझा कि आगे भविष्य में यह ऐतिहासिक उलझन पैदा करेगा।

उसे चाहिये था कि अपने कथानक के पात्र ये ऐतिहासिक व्यक्ति न चुनता।

उनका कहना यह था कि ऐतिहासिकों के मत में प्रायः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य ऐतिहासिक युग से पूर्ववर्ती काल का है, अतएव ऐतिहासिक उलझन का होना स्वाभाविक है। उनसे यही प्रेरणा मिलती है कि हम उन्हें फिर सुलझाने का प्रयत्न करें। ऐतिहासिकों का भारतीय साहित्य पर आक्षेप ही यह है कि पूर्ववर्ती काल में भारत में ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं था। इसी कारण वेदों से अत्यन्त अर्वाचीन काल के कालिदास आदि महामहिम कवियों का भी ठीक ठीक काल निर्णय नहीं हो सक रहा। वेद के ऋषियों का तो कहना ही क्या? और फिर जिस ऋषि-रचना-सिद्धान्त को वेद स्वयं प्रतिपादित करते हैं, उसका अर्वाचीन साहित्य के आधार पर ऐतिहासिक उलझन खड़ी करके अपलाप करना ठीक नहीं है।

अचेतन व तिर्यक् जाति के ऋषि

कर्तृवाद के निराकरण के लिये एक युक्ति

यह दी जाती है, जो कि उदाहरणार्थ निम्न प्रकार है।—

वेदों के ऋषियों में अनेक ऋषि ऐसे है, जो तिर्यक् जाति के प्राणी है, भौतिक अचेतन पदार्थ है, उनमें मन्त्र रचना की सामर्थ्य कैसे हो सकती है ? उदाहरणार्थ—कपोतो नैर्ऋत्यः, मत्स्यः, सांमदः (श्री पं० उदयवीर शास्त्री)

क्वचित् क्वचित् मन्त्रों के ऋषि नदी, पर्वत, सूर्य की चक्षु, कूर्म, मत्स्य, शंख, कपोत, श्येन, ऋषभ हें। क्या ये पदार्थ भी कभी मन्त्रों के कर्ता हो सकते है ?

(श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष स्वामी ब्रह्ममुनि 'वेद में इतिहास नहीं')।

इसी प्रकार पं० प्रियरत्न जी आर्ष ने अपनी पुस्तक में श्रद्धा, शिवसंकल्प आदि अवस्था, गुण, क्रिया तथा विविध भावों के द्योतक अनेकों ऋषियों का परिगणन किया है और ऋषिभेद, ऋषिविकल्प आदि का भी उन्होंने दिग्दर्शन कराया है। इसी

भांति अनेकों विद्वानों ने इन सब प्रमाणों व युक्तियों को कर्तृवाद के निराकरण में प्रयुक्त किया है। परन्तु ऐतिहासिकों की दृष्टि में ये प्रमाण व युक्तियां भी कोई मूल्य नहीं रखती।

१. ऐतिहासिकों का यह कहना है कि ये सब नाम व्यक्तिविशेष व जाति-विशेष के हो सकते है। और यह भी आवश्यक नहीं कि ये उपाधिरूप में हों। क्या प्राचीन युग और क्या अर्वाचीन युग, क्या पौरस्त्य देश और क्या पाश्चात्य देश–इनमें किसी भी देश के इतिहास पर दृष्टिपात कर लेवें, सर्वत्र व्यक्तियों व जातियों के ऐसे नाम उपलब्ध होंगे, जो कि पशु पक्षियों व भौतिक अचेतन पदार्थों के भी होंगे। हमारे ही भारतीय इतिहास में कई ऐसे ऋषि हैं, जो पशु पक्षियों व अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुये हैं। या तो उनकी उत्पत्ति इसी भांति अद्भुत व अलौकिक मानी जाये, यदि नहीं तो उनके माता-पिता के नाम पशु-पक्षियों के नाम थे ऐसा मानना पड़ेगा। दिग्दर्शन के लिये हम कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत करते हैं।

१ऋष्यश्रृंग ऋषि मृगी से उत्पन्न हुआ है। मन्दपाल मुनि बटेर (लाविका) से पैदा हुआ है, और कणाद महामुनि उलूकी (उल्लू) के गर्भ से पैदा हुआ। कौशिक२ कुशा घास से, जम्बूक ऋषि गीदड़ से, वाल्मीकि ऋषि बाम्बी से गोतम ऋषि खरगोश के पृष्ठ से, और अगस्त्य ऋषि घड़ेसे पैदा हुये हैं। इसी प्रकार तित्तिर, कपोतरोम आदि अनेकों ऋषि पशु-पक्षी-नाम-धारी हुये हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी की सेना में

---

१ मृगिजोऽथर्ष्यश्रृंगोऽपि वसिष्ठो गणिकात्मजः। मन्दपालो मुनिश्रेष्ठो लाविकापत्यमुच्यते। उलूकीगर्भसंभूतः कणादस्तु महामुनिः। भविष्य पुराण।

२ तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वेनकजातिसम्भवाः महर्षयो वहवः सन्ति। ऋष्यश्रृङ्गो मृग्यः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, शशपृष्ठात् गौतमः, अगस्त्यः कलशे जातः इति श्रुतत्वात्, वज्रसूचिकोपन्षित्॥

वानर व रीछ आदि योद्धा थे। क्या ये वानर व रीछ आदि जाति-विशेष के नाम नहीं हैं ?

महाभारत में सर्पजाति का प्रमुख रूप से वर्णन है। सहस्रों प्रकार के सांपों के नाम उस जाति के व्यक्तियों ने रक्खे हुए थे। जिनमें आस्तीक नाम का एक सांप ऋषि भी था।

और आधुनिक समय तक भारतीयों में ऐसी प्रवृत्ति रही है, कुक्कड़, गीदड़, मेंढ़े, खगार आदि पशु-पक्षी योनियों के नाम वे अपनाते रहे हैं। कावेरी, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के नाम स्त्री जगत् में आजकल पर्याप्त प्रचलित हैं। इतना ही नहीं कि पशु-पक्षियों के नाम मनुष्य जाति अपनाती रही है। वेषभूषा भी पशु-पक्षियों की वे अपनाते रहे हैं। इतिहास में ऐसी जातियों के वेशभूषा व चरित्र का वर्णन बहुत आता है, और आजकल भी जंगली जातियों में उनकी निशानियां देखी जा सकती हैं। पुनश्च योरोपियन जो कि ऐतिहासिकत्व के प्रबल पोषक हैं, उनके लिये तो यह युक्ति कोई युक्ति नहीं है। उनके यहां तो विशेषकर

अंग्रेज जाति में व्यक्तियों के नाम पशु, पक्षी, तथा अचेतन पदार्थों के नाम पर ही रक्खे जाते हैं। उदाहरणार्थ--मि० फोक्स (लोमड़ी) मि० बुल (बैल) मि० नाइटिंगेल (बुलबुल) । इंगलैंड का एक प्रधान मन्त्री हो चुका है, जिसका नाम था ग्लैडस्टन। इसका अर्थ है, प्रसन्न पत्थर।

इस प्रकार क्या पौरस्त्य और क्या पाश्चात्य जगत् सर्वत्र व्यक्तियों के नाम पशु पक्षियों के नाम से रक्खे जाते रहे हैं। अतः ऐतिहासिकों की दृष्टि में इस युक्ति व प्रमाण का कोई मूल्य नहीं है कि ऋषियों के नाम, कपोत, श्येन, ऋषभ आदि पसु पक्षी योनियों के और भौतिक पदार्थों के नहीं हो सकते।

कर्तृवाद के निराकरण में अन्य युक्तियाँ

कर्तृवाद के निराकरण में कुछ युक्तियां और दी जाती हैं, जो कि संक्षेप में इस प्रकार हैं।

१. एक मन्त्र के अनेकों ऋषि होना।

२. ऋषिभेद व ऋषिविकल्प का होना।

एक मन्त्र के अनेकों ऋषि—

उपरिलिखित युक्तियां कई विद्वानों की दृष्टि में इस बात को सिद्ध करती हैं कि कोई विशिष्ट ऋषि इनका रचयिता नहीं है। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का यह कथन है कि मन्त्र-निर्माण में अनेकों ऋषियों का समुच्चय हो सकता है। जिस प्रकार एक भरी सभा में विद्यमान सदस्य प्रस्ताव पास करते हुये प्रस्ताव के शब्दों की युक्ति-युक्तता व शब्द-विन्यास पर पूर्ण विचार कर प्रस्ताव का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार मन्त्र-निर्माण में भी दो तीन, या अनेकों ऋषियों का समुच्चय होना स्वाभाविक है। वेद में शतं वैखानसाः (६ म० ३६ सू०) आदि ऋषि इसी बात के द्योतक हैं।

ऋषि-विकल्प--

हमारे विचार में विकल्प अनिश्चय का द्योतक तो होता है, पर सदा नहीं। विकल्प के और भी कई कारण हो सकते हैं। और यह भी नहीं कि विकल्प रचना व कर्तृवाद का खण्डन करने वाला ही हो।

इस सम्बन्ध में दूर न जाकर डी० ए० वी० कालेज लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'वैदिक कोष' को ही ले लीजिये। इस 'वैदिक कोष' को कई विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी बी. ए. रिसर्च स्कौलर के नाम से स्मरण करते हैं, तो कई विद्वान् श्री पं० हंसराज जी के नाम से। वास्तविकता यह है कि इस कोष की विद्वत्तापूर्ण भूमिका श्री पं० भगवद्दत्त जी ने लिखी है और इसके निर्माण की योजना बनाई है। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों से शब्दों का संग्रह श्री पं० हंसराज जी ने किया है। यह एक प्रकार का विकल्प है। दूर भविष्य में जाकर यही विकल्प पूर्ण विकल्प का रूप धारण कर सकता है। परन्तु इस विकल्प से यह सिद्ध नहीं होता कि कोष का इन दोनों विद्वानों में से किसी ने भी निर्माण नहीं किया।

दूसरे आधुनिक समय में यह भी परिपाटी प्रचलित है कि दो दो विद्वान् मिलकर पुस्तक रचना करते हैं। यदि एक पुस्तक के दो लेखक हों तो उनके अपने २ परिवारों, अपने २ शिष्यों, व अनुयायिवर्गों में पुस्तक के सम्बन्ध में अपने गुरु का नाम

लिया जाना स्वाभाविक है। यही तथ्य आगे जाकर विकल्प का रूप धारण कर सकता है। इसी प्रकार मन्त्रों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है।

यदि एक श्लोक के तीन चरण राजा भोज ने बनाये और जब श्लोक का चौथा चरण भोज को नहीं सूझा तो शय्या के नीचे पड़े चोर ने बना दिया, तो क्या दो ऋषि मिलकर मन्त्र-निर्माण न करते होंगे। शेक्सपीयर के नाटकों के सम्बन्ध में विद्वानों में यह विवाद बड़ा उग्र रूप धारण कर चुका है कि इन नाटकों का लेखक शेक्सपीयर है या बेकन। कई विद्वान् शेक्सपीयर को मानते हैं और कई बेकन को। यदि अन्वेषणों से सर्व-सम्मत निर्णय न हो सका कि इन नाटकों का लेखक कौन है? तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि कई विद्वान् शेक्सपीयर को, कई बेकन को और कई विद्वान् दोनों को ही मानने लगेंगे। परन्तु इस विकल्प से यह निर्णय तो नहीं निकलता कि शेक्स-पीयर व बेकन में से कोई भी इन नाटकों का लेखक नहीं है। मन्त्रों के विकल्प के सम्बन्ध में भी हमें ऐसा ही समझना चाहिये।

मन्त्रकर्ता ऋषि

मन्त्र ऋषियों द्वारा रचे गये हैं, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों की एक युक्ति यह भी है कि उत्तर-कालीन वैदिक साहित्य में तो 'मन्त्रकृत्' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ ही है, पर स्वयं वेद में भी ऋषियों को 'मन्त्रकृत्' कहा गया है।

ऋग्वेद कहता है कि हे कश्यप१ ऋषि! मन्त्रकृत् ऋषियों द्वारा निर्मित स्तुतिसमूह से अपनी वाणी को अलंकृत व परिवर्धित कर।...... मैं स्तुतियों का कर्ता हूं।

---

१ ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। ऋ० ९।११४।२।। कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम्। निरु० ६।५।। तान् होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्। ऐ० ब्रा० ६।१।। शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। तां० ब्रा० १३।३।२४।। ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो०। तै० आ० ४।१।१।। नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। शां० आ० ७।१।।

इस प्रकार निम्न प्रमाणों के आधार पर हमें यह मानने के लिये बाधित होना पड़ता है कि वेदमन्त्र ऋषियों की रचनायें हैं ।

१. 'मन्त्रकृत्' शब्द के प्रयोग की दृष्टि से वेद व वेदोत्तर-कालीन साहित्य में हमें एकरूपता दृष्टिगोचर होती है ।

२. 'मन्त्रकृत्' पद में मन्त्र-रचना का भाव सन्निहित है, इसकी पुष्टि में संहितातिरिक्त मन्त्रों की उपलब्धि होती है ।

३. वेदों के अन्य मन्त्र भी मन्त्रनिर्माण को सिद्ध करते हैं । इसलिये 'मन्त्रकृत्' पद में भी कृ धातु का रचना अर्थ ही लेना चाहिये । वे मन्त्र उदाहरणार्थ हम पूर्व दर्शा चुके हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर और 'मन्त्रकृत्' पद में कृ धातु का प्रयोग देखकर ऐतिहासिक विद्वान् वेदों को ऋषियों की रचना मानते हैं । इसके समाधान में अपौरुषेयवादी विद्वानों का यह कथन है कि धातुयें अनेकार्थक

होती है । कृ धातु का 'करना' अर्थ ही नहीं है, 'दर्शन' आदि अन्य अर्थ भी होते हैं । इसकी पुष्टि में वे मन्त्र-दर्शन (मण्डलमपश्यत्, स्तोमान् ददर्श० आदि) को प्रकट करने वाले प्रमाणों को उपस्थित करते हैं । और वेदों के ऋषि रचना के विरोधी अन्य प्रमाणों के बल से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि 'कृ' धातु का यहां पर रचना अर्थ नहीं है । इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का यह कहना है कि 'कृ' धातु के अनेकार्थक होने से वेदों के कर्तृवाद का खण्डन नहीं हो जाता ।

धातु के अनेकार्थ एक क्रिया में इकट्ठे रह सकते हैं । क्योंकि क्रिया पूर्वापरीभूतावयव रूप होती है–अर्थात् एक प्रमुख क्रिया में अनेकों गौण क्रियायें सहायक रूप में सम्मिलित होती हैं । जिस प्रकार 'पचति' क्रिया में चावलों के चुगने से लेकर धोना, पात्र में डालना, आग पर चढ़ाना, इत्यादि अनेकों क्रियायें सम्मिलित होती हैं । इस दृष्टि से 'कृ' धातु में 'करना' अर्थ के साथ 'दर्शन' अर्थ भी रह सकता है । और वह इस प्रकार कि कवि अर्थात् ऋषि ने प्रकृति का दर्शन किया, निरीक्षण किया

और इस दर्शन व निरीक्षण के आधार पर मन्त्र-रचना कर दी। अर्थात् प्रकृति आदि के दर्शन से जो भाव उद्बुद्ध हुये उनको छन्द आदि की परिधि में रखते हुये शाब्दिक रूप दे दिया। वे 'मन्त्र-द्रष्टारः' में दर्शन से मन्त्र-शरीर दर्शन नहीं मानते, अपितु मन्त्र-विषयक वस्तु आदि का दर्शन मानते हैं। जिस प्रकार गौ शब्द से गोदुग्ध, गोचर्म आदि अनेकों अर्थ ग्रहण कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार मन्त्रद्रष्टारः प्रयोग में मन्त्र-शरीर का ही ग्रहण क्यों किया जाये, मन्त्र-निर्माण में सहायक सामग्री, मन्त्रनिहित भाव आदि का ग्रहण क्यों न किया जाये ? इस प्रकार ऐतिहासिकों की दृष्टि में दर्शन और करना ये दोनों पूर्वापरीभूत रूप हैं। और जहां केवल दर्शन का प्रयोग किया है, उसकी व्याख्या यूं भी की जा सकती है कि दर्शन और करना इन दोनों पूर्वापरीभूत क्रियाओं में दर्शन प्रमुख है। एक ही वस्तु को सामान्य जन भी देखता है और एक कवि भी देखता है। सामान्य जन को उस वस्तु में कुछ नहीं दिखाई देता पर कवि को उसमें बहुत कुछ दिखाई देता जाता है। तुकबन्दी तो एक गौण

वस्तु है, वास्तव में तो दर्शन ही है। इसी दर्शन की उत्कृष्टता के कारण मन्त्रकर्तारः के स्थान में मन्त्र-द्रष्टारः को प्रमुखता दे दी गई है। परन्तु इन दोनों 'कर्तारः, द्रष्टारः' में विरोध न हो जाये, ये दोनों एक ही तथ्य के द्योतक हैं, एक ही पूर्ण क्रिया के पूर्वापरीभूत क्रियायें हैं—इस बात के द्योतन के लिये ऋषियों ने दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग कर दिया है। कहीं उन ऋषियों को कर्ता कह दिया है और कहीं द्रष्टा।

ऋषिराद्यः प्रजापतिः—वह प्रजापति भगवान् आद्य ऋषि है। यदि यहां भी ऋषि का भाव मन्त्र-द्रष्टा मानें तो भगवान् में भी वेदों का कर्तृत्व न रहेगा। इसलिये ऋषि का भाव मन्त्रद्रष्टा में ही नहीं। इसके कई भाव हो सकते हैं एक वे ऋषि हैं, जो केवल मन्त्रार्थद्रष्टा हैं। दूसरे वे ऋषि हैं जो मन्त्र-रचना के लिये देवता-विषयक वस्तु का दर्शन करते हैं। एक वे भी ऋषि हैं जिनको (ऐनक) पहन कर मन्त्रों का दर्शन होता है। इसलिये ऋषि का जो भाव हम अपौरुषेय-

वादी ग्रहण करते है, यह आवश्यक नहीं कि ऐतिहासिक भी उसी भाव को ग्रहण करें।

ऋषि प्रवक्ता व प्रयोक्ता

वेदोत्तर-कालीन साहित्य में ऋषियों को जो प्रयोक्ता व प्रवक्ता कहा गया है। इससे भी मन्त्र-रचना में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। प्रारम्भ में जब ऋषियों ने मन्त्रों की रचना कर यज्ञादि में उनका प्रयोग किया तो उस समय मन्त्रों के कर्ता और प्रयोक्ता दोनों ही रूप उनके थे। परन्तु पीछे यास्क व दुर्गाचार्य आदि के समय में मन्त्र-कर्तृत्व समाप्त होता गया और प्रयोक्तृत्व व द्रष्टृत्व ही शेष रहा। यदि पीछे के भाष्यकारों ने 'कृ' धातु का केवल प्रयोक्ता व द्रष्टा में ही पूर्णार्थ समझा तो इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि उस भाष्यकार से पूर्व मन्त्र-रचना होती नहीं थी। शाखा, संहिताओं व सूत्रग्रन्थों आदि में ऐसे अनेकों मन्त्रों की भरमार है, जो संहिताओं में नहीं आते है।

चारों संहिताओं से अतिरिक्त मन्त्र

ऐतिहासिकों का यह मन्तव्य है कि किसी काल-

विशेष में इतस्ततः बिखरे हुये मन्त्रों का संहिता रूप में संकलन किया गया । परन्तु ऐसे अनेकों मन्त्र प्रभूतमात्रा में उपलब्ध होते हैं, जो कि चारों संहिताओं में किसी कारण से स्थान न पा सके । ये मन्त्र ब्राह्मणों ,आरण्यकों व सूत्रग्रन्थों में बहुतायत से पाये जाते है । जो उपयोग संहिताओं के मन्त्रों का है, वही उपयोग इनका भी है । प्रार्थना, उपासना, यज्ञ, याग, जप, ध्यान आदि सभी क्षेत्रों में ये मन्त्र उसी प्रकार प्रयुक्त होते है, जिस प्रकार संहिताओं के मन्त्र । प्रयोग की दृष्टि से तो हमें संहिता-मन्त्रों से इनका कम सामर्थ्य व इनका निकृष्ट स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता । केवल प्राचीन ऋषियों ने ही इनका यज्ञ यागों में प्रयोग नहीं किया, अपितु आधुनिक युग के वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द ने भी उनका उसी रूप में प्रयोग किया है, जैसा संहिता मन्त्रों का । सन्ध्या व अग्निहोत्र के कई मन्त्र वेदोत्तरकालीन साहित्य के है । और स्वामी दयानन्द रचित सन्ध्या के मार्जन मन्त्र वेदोत्तरकालीन किस ग्रन्थ के हं, यह हमें अभी तक पता नहीं लग सका । क्या ये मन्त्रकृत् ऋषि दयानन्द के मन्त्र नहीं माने जा सकते ? यदि ऐसा

नहीं है और किसी प्राचीन ग्रन्थ के ये मन्त्र है, ऐसा सिद्ध हो जाये तो भी संहिताओं के ये मन्त्र नहीं है, यह तो निश्चित ही है ।

काल्पनिक मन्त्र

संहितातिरिक्त मन्त्रों को कई विद्वान् काल्पनिक मन्त्र मानते हैं । हमारी दृष्टि में इनके लिये काल्पनिक संज्ञा नहीं देनी चाहिये । काल्पनिक शब्द के साथ कुछ २ अवास्तविकता का भाव जुड़ा हुआ है । श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने काल्पनिक मन्त्रों की रचना का जो प्रकार बताया है कि "तत्पश्चात् मन्त्रों के विभिन्न स्थानों के विभिन्न वाक्य जोड़कर मन्त्रों की रचना की गई" यह उक्ति क्या संहिता-मन्त्रों में नहीं घटती ? अनेकों पुनरुक्त मन्त्र इसके उदाहरण हैं । और कई मन्त्रों में हमें यह दिखाई देता है कि एक ऋषि के मन्त्र में से दो एक शब्द परिवर्तित कर दूसरे ऋषि ने अपने नाम से वह मन्त्र उद्धृत कर दिया । ऐतरेय ब्राह्मण वर्णित विश्वामित्र और वामदेव का सम्पात सूक्तों के सम्बन्ध में विवाद इन्हीं तथ्यों का ज्वलन्त उदा-

हरण है । ऐतिहासिक दर्शन को मन्त्ररचना में सहायक मानते हैं विरोधी नहीं, यह बात हमें सदा ध्यान में रखनी चाहिये । और फिर वेदों में क्रमिक विकास मानने वाले और कई कालों में संहिताओं को विभक्त करने वाले ऐतिहासिकों का यही तो कथन है । पुनश्च मन्त्र-पुनरुक्ति के अतिरिक्त अर्थ व भाव की पुनरुक्ति इतनी अधिक है कि यदि वैज्ञानिक दृष्टि से मन्त्रों का संकलन किया जाये तो चारों संहिताओं में थोड़े से मन्त्र ही शेष रहेंगे और और सबको त्याग देना पड़ेगा । मन्त्र पुनरुक्ति और अर्थ व भाव पुनरुक्ति के दोष से यदि हम कुछ बच सकते हैं तो उसी अवस्था में जब कि त्रयी विद्या अर्थात् ऋग्, यजुः और साम का वास्तविक भेद क्या है यह पता चल जाये । दूसरे मन्त्रार्थ करते हुये ऋषि, देवता और छन्द इन तीनों का ध्यान रक्खा जाये । इन सब विषयों पर हम फिर कभी विस्तार से लिखेंगे ।

मन्त्रकृतः ऋषयः—(अपूर्वोत्पत्ति)

कई विद्वान् 'मन्त्रकृत्' आदि पदों में 'कृ' धातु

का रचना व उत्पत्ति अर्थ तो स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु मन्त्र की अपूर्वोत्पत्ति नहीं मानते । उनके मत में 'मन्त्रकृत्' पद में रचना व उत्पत्ति का भाव गौण है । मन्त्र नित्य हैं, इन नित्य मन्त्रों का प्रकाश क्योंकि ऋषियों के माध्यम से हुआ, इसलिये गौण भाव में ऋषियों को 'मन्त्रकृतः' कह दिया गया है । उनको दृष्टि में 'मन्त्रकृत' में 'कृ' धातु किसी अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति को सूचित नहीं करती । इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का यह कहना है कि अर्द्ध-पौरुषेय पक्ष में भी तो मन्त्रों की अपूर्वोत्पत्ति नहीं है । जिस प्रकार सुवर्णाभरण और मृत्तिका से घट आदि निर्मित होते हैं, उसी प्रकार ऋषियों के हृदय में अघढ़ अवस्था में उत्पन्न भागवत ज्ञान से ही ये मन्त्र ऋषियों द्वारा रचे गये हैं । इसमें भी अपूर्वोत्पत्ति नहीं है और ऐतिहासिकता का भी निराकरण नहीं होता । अन्त में हमारा यही निवेदन है कि जिन साधनों का अवलम्बन कर ऐतिहासिक लोग वेदों में इतिहास आदि का वर्णन व उन्हें ऋषि-रचना मानते हैं, उन्हीं साधनों को ग्रहण कर उनका खण्डन अति दुष्कर है ।

---o---

अर्द्धपौरुषेय-वाद

वेदों से लेकर आर्ष परम्परा तक जितना भी वैदिक वाङ्मय है, उसमें वेदों को एक स्वर से भागवत ज्ञान माना गया है, पर इसकी व्याख्या आर्ष-परम्परा के प्रति श्रद्धालु विद्वानों द्वारा दो दृष्टि बिन्दुओं से की जाती है, जो कि अपौरुषेय व अर्द्ध-पौरुषेय नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। इन दोनों वादों के प्रचलन व अस्तित्व में पूर्वप्रेरणा स्वयं वेदों से ही हुई है, ऐसा हम निश्चय से कह सकते हैं। क्योंकि वेदों को भागवत ज्ञान बतलाने वाले मन्त्रों के साथ ऐसे भी मन्त्र वेदों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह ध्वनित होता है कि मन्त्रों का निर्माण ऋषियों ने किया है।

इस मत के आधार पर मन्त्रों में निहित ज्ञान तो भगवान् का है, पर मन्त्र-रचना अर्थात् मन्त्रों में शब्द-विन्यास ऋषियों का अपना है। इस सम्बन्ध में वे जिन मन्त्रों को पेश करते हैं, वे उपर्युक्त पक्ष-पोषण में अत्यन्त प्रभावशाली हैं। उनमें से दो एक मन्त्र इस प्रकार है—

"जिन१ मानव हितकारी ऋषियों ने वरणीय मन्त्र का तक्षण किया।"

"हृदय२ से तक्षण किये हुये मन्त्रों को जिन्होंने जनता के समक्ष उच्चरित किया।"

इन उपर्युक्त मन्त्रों में तक्षण शब्द पर विचार करना चाहिये। तक्षण का प्रयोग प्रमुख रूप से अघढ़ को सुघढ़ बनाने में होता है। अघढ़ व बेडौल लकड़ी में तरखान व बढ़ई तक्षण द्वारा सुघढ़ता पैदा करते हैं और कुर्सी मेज आदि सुन्दर २ वस्तुओं का निर्माण करते हैं। भगवान् ने द्युलोक व भूमि का जो तक्षण (निरतक्षतम्) किया है, वह पूर्व से ही विद्यमान त्रिगुणात्मक रूपरहित प्रकृति से ही द्यावाभूमी के सुन्दर-सुन्दर रूपों का तक्षण किया है। इससे यह स्पष्ट है कि तक्षण क्रिया द्वारा अघढ़ व रूपरहित विद्यमान वस्तु को रूप दिया जाता है, उसे सुघढ़ बनाया जाता है। इसी प्रकार भगवान् में निहित ज्ञान भगवान् की कृपा से सर्वप्रथम

---

१ मन्त्रं ये वारं नर्या अतक्षन्। ऋ. ७।७।६।

२ हृदा यत् तष्टान् मन्त्रां अशसन्। ऋ० १।६७।२।

ऋषियों के हृदयों में अघढ़ अवस्था में उद्बुद्ध होता है, उसे वे फिर सुन्दर २ शब्दों द्वारा रूप देते हैं। और इसी प्रकार कवि लोग भी मस्तिष्क में उद्-बुद्ध व उन्मेष रूप में विद्यमान विचार को सुन्दर २ शब्दावलियों द्वारा अलंकृत करते हैं, पुष्पित व पल्लवित करते हैं। यह एक प्रकार का ज्ञान का तक्षण है। इसलिए—'यस्माद् ऋचो अपातक्षन्' का अर्थ है कि ऋषियों ने ऋचाओं को जिस परम पुरुष से (अप अतक्षन्) पृथक् करके तक्षण किया। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले विद्वानों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि जब पूर्व ऋषियों द्वारा सृष्टि के आदि में मन्त्रों का तक्षण किया गया तो उसी प्रकार मन्त्रों का तक्षण पीछे भी हुआ, जो कि अर्वाक्कालीन साहित्य में तक्षण किए गये अनेकों मन्त्र हमें उपलब्ध होते हैं और इसी प्रकार भविष्य में भी मन्त्रों का तक्षण हो सकता है। इस प्रकार अर्द्धपौरुषेय के पक्ष को हमने अति संक्षिप्त रूप में दर्शाया है।

विरोध-परिहार

इन दोनों (अर्द्धपौरुषेय-अपौरुषेय) वादों में

वेदान्तर्गत मन्त्रों में निहित ज्ञान के ईश्वरीय होने में तो कोई विरोध नहीं है, पर छन्दोबद्ध मन्त्र के निर्माण में महान् भेद है। अब विचारणीय समस्या यह है कि मन्त्रों का यह पारस्परिक विरोध व विरोधाभास किस प्रकार दूर हो? अपौरुषेयवादी कहते हैं कि मन्त्रगत ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ मन्त्रगत छन्दोबद्ध रचना भी भगवान् की की हुई है। अतः उनके मत में वेदों में अनित्य इतिहास लेशमात्र भी नहीं है। और जो मन्त्रों में राजा व ऋषि आदियों के नाम उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः शक्तियां व दृष्टियां हैं, जिन को मानवीय चोला पहना दिया गया है। इसके विपरीत अर्द्धपौरुषेय पक्ष का अवलम्बन करने वाले विद्वान् मन्त्रों द्वारा प्रतीयमान विरोध का परिहार इस प्रकार करते हैं कि मन्त्रगत ज्ञान-विज्ञान भगवत् प्रदत्त है, पर छन्दोबद्ध वाक्य-विन्यास ऋषिकृत् है। इसलिए इनके मत में वेदों में सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों के साथ ऐतिहासिक घटनाओं का संकेत व ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों का भी निदर्शन होना स्वभाविक है। उनका यह भी कहना है कि वेदों का निर्माण प्रमुख रूप से

भागवत ज्ञान के प्रचलन व सृष्ट्यन्तर्गत निगूढ़ रहस्यों के उद्घाटन के लिए हुआ है। अतः मन्त्रों मे ऐतिहासिक घटनाओं का पूर्ण विवरण व उन घटनाओं का क्रमिक तारतम्य ढूंढना अनुपयुक्त है। इस प्रकार ये दोनों वाद अपनी अपनी दृष्टि से मन्त्र-गतविरोध का परिहार करने का प्रयत्न करते हैं।

अर्द्धपौरुषेय पक्ष में मन्त्रों का स्पष्टीकरण

अब हम यह देखते हैं कि अर्द्धपौरुषेय वादी विद्वान् वेदों के अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने वाले मन्त्रों की व्याख्या अपने पक्ष में किस प्रकार करते हैं ? उनमें से कुछ मन्त्र निम्न हैं—

ऋ० १०।७१ सू. ऋ० १।४०।५ यजु. ३१।७, अथर्व. ४।३५।६, ६।६।१-२, १०।७।२०, १०।८।३२, ११।७।२४, १६।७।१४॥

अथर्व. १०।७।२० में वेदों के तक्षण आदि का जो विधान है, उसकी अर्द्धपौरुषेय पक्ष में व्याख्या हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। इसलिए तत्संबन्धी मन्त्र पर विचार करने की यहां विशेष आवश्यकता

नहीं है। ऋ० १०।७१ सू. के प्रथम तीन मन्त्र भी अपौरुषेय पक्ष की अपेक्षा अर्द्धपौरुषेय पक्ष को ही अधिक पुष्ट करते हैं, ऐसा तन्मतावलम्बी विद्वानों का कहना है। उनका यह भी कथन है कि इस सूक्त के एक मन्त्र की व्याख्या यदि हम एतरेयारण्यक की छाया में देखें तो उससे भी अर्द्धपौरुषेय पक्ष की ही झलक मिलती है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

१—(बृहस्पते) हे ज्ञानविज्ञान के स्वामी परमात्मन्! (प्रथमं) सृष्टि के आरम्भ में (नामधेयं दधानाः) तुझ से अपने अपने नामों को धारण कर ऋषियों ने (यत्) जो (अग्रं) पहिले पहल (वाचःप्रैरत) बोलने के लिए अपनी वाणी को प्रेरित किया तो उस समय (यत्) जो (एषां) इन ऋषियों का वेद सम्बन्धी (श्रेष्ठं) श्रेष्ठ तथा

---

१ बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ ऋ०१०—७१—१।

(अग्रिम्) निर्मल (गुहानिहितं) हृदय गुहा में निहित ज्ञान (आसीत्) था वह (प्रेणा) प्रेरणा करने से (आविः) प्रकट हो गया।

ऐतरेयारण्यक में उपर्युक्त मन्त्र का भाव इस प्रकार विशद किया गया है। 'जिस१ प्रकार माता-पिता 'तत तात' आदि शब्दोच्चारण कर (प्रथमवादी) प्रथम बोलने वाले कुमार को बोलने के लिए प्रेरणा देते हैं, और कुमार भी अनुकरण में वैसा ही बोलने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार उस अजन्मा भगवान् ने सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न उन ऋषियों के नाम रखते हुए अर्थात् तत्तन्नाम से पुकारते हुए बोलने के लिए उन्हें प्रेरित किया। उसी प्रयत्न व प्रेरणा-बल (प्रेणा) का परिणाम

१ एतां वाव प्रजापतिः प्रथमा वाचं व्याहरदेकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति तथैवैतत् कुमारः प्रथमवादी वाचं व्याहरत्येकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति ? तथैवैतत्तत्वत्या वाचा प्रतिपद्यते। तदुक्तं ऋषिणा 'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रमित्येतद्ध्येव प्रथमं वाचो अग्रम्।' ऐ० आ० १।३।३।

यह हुआ कि हृदय गुहा में निहित श्रेष्ठ व निर्मल ज्ञान प्रकट हो गया।

अब प्रश्न यह है कि ऐतरेयारण्यक में जो कुमार की उपमा दे रखी है, अर्थात् जिस प्रकार कुमार शनैः शनैः बोलने का प्रयत्न करता है, क्या उसी प्रकार ऋषियों के शुद्ध उच्चारण आदि में क्रमिक सोपान माना जाय? "वाचो अग्रं" अर्थात् वाणी का प्रारम्भ व वाणी की शुरुआत का स्वरूप क्या है? यदि प्रथमवादी कुमार को लेकर इस पर विचार किया जावे तो यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि प्रथमवादी कुमार में वाणी-सौष्ठव नहीं होता वह तुतलाता है। अक्षरों का विपर्यास, भ्रंश व हकलाना आदि कई प्रकार की बाधायें उपस्थित होती हैं। क्या प्रथमवादी ऋषियों में भी ये दोष माने जावें? यही एक समस्या है जिस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। हां! हम यहां इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि कई भगवद्भक्त भाषा-विज्ञानी इस कुमार के दृष्टान्त से भाषोत्पत्ति में क्रमिक विकास को सिद्ध करने का प्रयास करेंगे, जिसमें विशेषता यह होगी कि भाषा की उत्पत्ति

में प्रच्छन्न रूप से भगवान् की सहायता भी अन्तर्निहित है।

यदि अर्द्धपौरुषेयवादी उपर्युक्त समस्याओं पर अधिक बल न देकर मन्त्र के उत्तरार्द्ध के आधार पर यह कहें कि उन ऋषियों की हृदयगुहा में जो श्रेष्ठ वा निर्मल ज्ञान प्रेरणा-बल से आविर्भूत हुआ है वह वेदनिहित ज्ञान है, छन्दोबद्ध मन्त्रसमूह नहीं। वे इसकी पुष्टि में ये निम्न प्रमाण दे सकते हैं।

१–एक तो सूक्त का देवता "ज्ञानम्" है। जिससे यही ध्वनित होता है कि यहां वेदनिहित ज्ञान का ग्रहण करना है।

२–दूसरे अर्द्धपौरुषेय पक्ष का प्रबल पोषक इस सूक्त का द्वितीय मन्त्र है।

यदि इन दोनों मन्त्रों को परस्पर सम्बद्ध कर पढ़ें तो अर्द्धपौरुषेय पक्ष ही पुष्ट होता प्रतीत होता है। मन्त्र में कहा गया है कि "जिस[1] प्रकार

---

१ सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ऋ० १०।७१।२।

छलनी में सत्तु को छानकर पवित्र करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न उन धीर ऋषियों ने मन से वाणी का निर्माण किया।"

छलनी से सत्तु छानने की उपमा इस तथ्य को स्पष्ट रूप में घोषित करती है, कि जिस प्रकार छलनी द्वारा सत्तु में से भूसी पृथक् कर दी जाती है और सत्तु निर्मल व स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ऋषियों ने अपने मनों में अघड़ अवस्था में आविर्भूत ज्ञान में से दोषयुक्त अंश का परित्याग कर सुन्दर २ शब्दावलियां देकर वेद वाणी का निर्माण किया। यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी विशिष्ट भाव को घोषित करने के लिये प्रत्येक के हृत्पटल पर कई प्रकार के शब्द आविर्भूत होते हैं, जिन में अनेकों शब्द अनुपयुक्त व हीनकोटि के होते हैं, ज्ञानी पुरुष उन दोष-परिपूर्ण शब्दों का परित्याग कर सुन्दर-सुन्दर वाक्य के रूप में अपने अन्तर्निहित भाव को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया करता है। यही भाव वेदों के तक्षण का है। इस प्रकार ऋ० १०।७१ सूक्त के ये दोनों मन्त्र मिल कर अर्द्धपौरुषेय पक्ष को ही अधिक पुष्ट

करते प्रतीत होते हैं। अब हम शब्द ब्रह्म की दृष्टि से भी इस अर्द्ध पौरुषेय पक्ष पर विचार करते हैं।

शब्द ब्रह्म और वेद

शब्द ब्रह्म के दो रूप हैं, एक नित्य और दूसरा अनित्य। नित्य रूप अव्यवहार्य है, प्रपञ्चोपशम है और अनित्य स्फोट१ रूप है। अनित्य स्फोटरूप भी दो प्रकार का है, एक अव्यक्तवाक् और दूसरा व्यक्तवाक्। अव्यक्तवाक् स्वररूप है, शक्तिपुञ्ज है और व्यक्तवाक् व्यञ्जन रूप है और प्रकृति है। इस सम्बन्ध में हम 'वेदों के साक्षात्कार नामक' निबन्ध में विस्तार से विचार कर चुके हैं। कहने का भाव यह है कि नित्य शब्द ब्रह्म स्वयं महेश्वर है, अमात्ररूप है, किसी भी प्रकार के प्रपंच से रहित है। जिस प्रकार समुद्र में बुलबुले पैदा होते रहते हैं, उसी प्रकार इस ध्वनिसमुद्र में अनित्य वाक बुलबुलों की तरह प्रस्फुटित होती रहती है। इसी ध्वनि समुद्र का चित्र तै० सं० ६।४।७।३ में अव्याकृत वाक् के रूप में खींचा है। इसी अव्याकृतवाक् के चित्र को हम सायण-भाष्योपक्रमणिका में से

१ स्फोट शब्द का यहां प्रयोग व्याकरण का स्फोट नहीं है।

उद्धृत करते हैं। इस उद्धरण का भाव यह है कि प्रारम्भ में एकात्मिका अविच्छिन्न रूपवाली अव्याकृत वाक् थी। देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की कि इस वाक् को व्याकृत कर दो। इस पर इन्द्र ने व्याकृत करने के लिये यह वर मांगा कि वाक् के उच्चारण के लिए इन्द्र और वायु दोनों को एक साथ ग्रहण किया जाये। इसलिये व्याकृत वाक् में इन्द्र और वायु दोनों को एक साथ ग्रहण किया जाता है। वाक् को व्याकृत करने के लिए इन्द्र ने यह किया कि उस ध्वनि-समुद्र में अवक्रम, विच्छिन्नता पैदा करदी१।

---

१ वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमनुब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीत् वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्, तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।। तै० सँ० ६।४।७।३।
तै० सं० का यह ब्राह्मणभाग ऋ० ७।९२।१ यजु० ७।७ मन्त्र की ही व्याख्या है। इस सन्दर्भ को ऐन्द्र और वायव्यव्याकरणों के प्रति घटाकर व्याकरणकर्ता इन्द्र तथा वायु आचार्यों को सिद्ध करना हमारी दृष्टि में उपयुक्त नही है क्योंकि इससे मन्त्रों में मानवीय इतिहास की सत्ता सिद्ध होती है।

इस का भाव यह है कि जिस प्रकार समुद्रादि की ध्वनि एकरूप व एकरस रहती है, उसी प्रकार प्रारम्भ में ध्वनि समुद्र भी एकात्मक था। उसमें स्वर, व्यञ्जन, प्रकृति, प्रत्यय, पद, वाक्य आदि कुछ नहीं था। उस समय इन्द्र और वायु अर्थात् मन और प्राण का सहचार हुआ। मन ने प्राणवायु को अवक्रम विधि द्वारा अर्थात् बीच २ में व्याघात करके प्रेरित किया तो पृथक् २ वर्णों, शब्दों तथा वाक्यों आदि की उत्पत्ति होती गई। यह वाक् की व्याकृति कहलाती है। यही भाव पाणिनीय शिक्षा में—"मनः (इन्द्र) कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्" आदि श्लोकों में प्रदर्शित किया गया है। सायणाचार्य ने उपर्युक्त प्रकरण की व्याख्या में यह लिखा है कि "अग्निमीडे पुरोहितमित्यादि-वाक् पूर्वस्मिन्काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेका-त्मिका सत्यव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्य-मित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्" इसका असली तात्पर्य यह है कि "अग्निमीडे पुरोहितं" आदि मन्त्र अर्थात् वेद पुराकाल में समुद्रादि की ध्वनि की तरह एकरूप ही थे। उनमें वर्ण, पद, वाक्य आदि विभाग कुछ नहीं था। इससे यह सिद्ध

है कि वाणी की अव्याकृत अवस्था अर्थात् एकात्मिका अवस्था में वेद भी स्वर, व्यञ्जनादि वर्ण तथा छन्दोबद्ध रचना आदि से रहित थे। तो फिर प्रश्न होता है कि क्या थे? कुछ नहीं कह सकते। क्योंकि वह अवस्था वर्णनातीत अवस्था है, शब्दों से परे की स्थिति है। इसी भाव को गीता में यों कहा गया है कि हे अर्जुन! वेद त्रैगुण्यविषयक है, तू इस त्रिगुण से ऊपर उठ। इससे यह ध्वनित होता है कि एक ऐसी भी स्थिति है जो वेदों के व्याकृत रूप से भी परे है, जिसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। वेदों में भी इस स्थिति को व उस प्रदेश को त्रिपाद् नाम से कह दिया है। उस स्थिति का वर्णन कुछ नहीं किया। ऐसे ही गीता में वेद के इस त्रिपाद् को त्रिगुण से ऊपर इस नाम से कह दिया है। वर्णन भी कैसे हो? क्योंकि वह स्थिति व प्रदेश तो सब प्रकार की विविधताओं से ऊपर है, एकरस व एकरूप है, जहां स्वयं वेद भी एकात्मिका ध्वनि में निलीन है। मानव-पिण्ड की दृष्टि से विचार करें तो मनुष्यों में भी ध्यानावस्था में एकात्म-प्रत्ययता की स्थिति ऐसी ही है, जहां

आत्मा के सिवाय कुछ है ही नहीं। इस स्थिति में सब वेद समाप्त हैं। एकात्मप्रत्ययसार में भी वेदों की त्रिगुणात्मक स्थिति से ऊपर उठना है। इस अवस्था में न स्वर है, न व्यञ्जन है, न पद है न वाक्य और नामरूप भी नहीं है। जब कुछ भी नहीं तो वेद का यह व्याकृत रूप कहां हो सकता है? १इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि एक ऐसी वर्णनातीत स्थिति है जो सर्वोत्कृष्ट है, मानवमात्र का ध्येय है, जहां संसार की विविधता कुछ नहीं है। सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले वेदों से भी ऊपर है। अतः हम यह निर्विवादरूप से कह सकते हैं कि वेद सृष्टि-व्यवस्था से ही सम्बन्ध रखते हैं। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि वेदों का पद, वर्ण, वाक्य आदि क्रमिक रूप मनुष्य के पृथिवी पर अवतरित होने पर ही सम्भव है। और फिर मनुष्य में भी वाक् के चार रूप हैं। इनमें तीन रूप उसके आन्तरिकगुह्य स्तर में निहित हैं। वे सामान्य जन को प्रकट नहीं होते। केवलमात्र वाणी का चौथा रूप जिसे कि बैखरी कहा जाता है, व्यक्त रूप वाला

१ वेदा अवेदा० बृहदारण्यक।

होता है। इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि मानव के अन्दर विद्यमान वाणी के तीन रूपों मे से किस में स्वर व्यञ्जनादि हैं और किस में नहीं हैं, परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम वाणियों में सूक्ष्मतम वाणी ही श्रेष्ठ है, जो कि अत्यन्त अज्ञेय है। और जिसमें स्वर-व्यञ्जनादि नहीं हैं, ऐसा हम कह सकते हैं।

वेद माता–आदिम वाक्

तैत्तिरीय ब्राह्मण में मन्त्र आता है, जो कि इस प्रकार है—

"वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः" तै०ब्रा० २।८।८।५।

ऋत की प्रथम उत्पत्ति वाक् है, जो अविनाशी है। वेदों की माता है और अमृत का केन्द्र है।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि वेदों की माता वाक् वेदों की सत्ता से पूर्व विद्यमान थी। अब विचारणीय यह है कि ऋत से वाक् की उत्पत्ति और उसका स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में संक्षेप में

यह कहा जा सकता है कि यह ऋत भगवान् के अभीद्ध व प्रदीप्त तेज से उस समय पैदा होता है, जब कि भगवान् सृष्टि का निर्माण आरम्भ करते हैं। 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (ऋ०१०।१९०।१) यह ऋत ही आदिम वाक् की उत्पत्ति में कारण है। यह ऋत एक प्रकार की सत्याश्रित प्रारम्भिक गति है (ऋगतौ) हम संसार में यह देखते है कि जब किसी वस्तु में गति प्रारम्भ हो जाती है तो वायु आदि के साथ टकराने से उसमें ध्वनि भी होने लगती है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में ऋतात्मक गति के प्रारम्भ होने पर जो ध्वनि हुई वही यहां अविनाशी वाक् मानी गयी है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यह ध्वनिवाक् स्थूल सृष्टि की ध्वनियों से भिन्न है। क्योंकि सृष्टि विकास क्रम में प्रकृति की ऋत अवस्था सूक्ष्म ही थी। इसमें स्थूल सष्टि का वैविध्य नहीं था। अतः जिस प्रकार ऋत नामक एकरस व सरल गति (ऋजु) होती है, उसी प्रकार इस ऋत से उत्पन्न ध्वनि का सूक्ष्म व एकरस होना स्वाभाविक है। यही ध्वनि अविनश्वर है। जब तक

सृष्टि है, तब तक यह ध्वनि निरन्तर रहती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि वेद अपनी व्यञ्जनावस्था से पूर्व ऋतोत्पन्न ध्वनिसमुद्र में लीन थे। यह ध्वनिसमुद्र ही शब्द ब्रह्म है। और यदि 'प्रथमजा ऋतस्य' की व्याख्या यह की जाये कि 'ऋतस्य प्रथमं जनयिता' अर्थात् वह वाक् ऋत की प्रथमोत्पादक है, तो इससे यह वाक् सब से पूर्व उत्पन्न होने वाले (पूर्व ऋतं) ऋत से भी पूर्व सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार ऋत और वेद दोनों वाक् से उत्पन्न होते हैं। इस वाक् का एक विभाग निम्न प्रकार किया गया है। काठ.सं. १४।५ में वाक् को चार भागों में विभक्त किया गया है। वह इस प्रकार है "देवों[1] द्वारा दृष्ट वह वाक् चार रूपों में विभक्त हुई। तीन रूप तो

[1] स वाग् दृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्। या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ। या अन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये। या पृथिव्या साग्नौ सा रथन्तरे। या पशुषु तस्या यद् अतिरिच्यत ता ब्राह्मणे न्यदधुः का० सं० १४।५॥

उसके इन तीन लोकों में फैले और चौथा रूप पशुओं में और तदतिरिक्त ब्राह्मण में " यह तालिका में इस प्रकार रखा जा सकता है ।

जो वाक्—द्युलोक में है वही—बृहत् साम म और वही—स्तनयित्नु में—

„ अन्तरिक्ष . . . वामदेव्य साम . . . वायु . .

„ पृथिवी . . . रथन्तर . . . . अग्नि . . . .

और जो चौथी वाक् है, वह पशुओं में है । उससे जो अतिरिक्त रही वह ब्राह्मण में रख दी गई ।

यदि हम उपर्युक्त प्रकरण पर सूक्ष्म विवेचनात्मक दृष्टि डालें तो हमें यह प्रतीत होता है कि तीन लोकों, बृहत् आदि सामगानों तथा अग्नि, वायु आदि शक्तियों में जो वाक् बताई है, वह एकरूपात्मक ही होनी चाहिये, और वह अव्यक्त वाक् ही हो सकती है । हां ! चतुर्थ वाक् जो कि पशुओं की वाक् है, उसे उपर्युक्त तीनों वाक् की अपेक्षा व्यक्त वाक् कह सकते हैं । परन्तु इनमें भी अव्यक्त और व्यक्त दोनों प्रकार की वाक् मिश्रित है । क्योंकि यहां अव्यक्त वाक् वाले पशुओं

में पुरुष को भी गणना की गई है, जो कि व्यक्तवाक् वाला पशु ही है। हां ब्राह्मण को पुरुष-पशु से अतिरिक्त माना है।

ऋ० ८।१००।१०,११ मन्त्रों में भी दैवी वाक् का चित्र खींचा गया है। वहां आता है कि १"अस्पष्ट, अज्ञात अर्थात् अव्यक्त ध्वनियों को करती हुई (अविचेतनानि) देवों की अधीश्वरी, मन्द्र रूप वाली वह वाक् चारों दिशाओं से ऊर्ज व पयों को दोहन करती है। इसका सर्वोत्कृष्ट रूप कहां जाता है, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।२ इस दैवी वाक् को देवों ने पैदा किया,

१ यद् वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र उर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥ ऋ० ८।१००।१०।

२ दैवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवोवदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ऋ० ८।१००।८।

इसे विश्व रूप अर्थात् ब्रह्माण्ड के सभी पशु बोलते हैं। यह आनन्ददायिनी वाक्रूपी धेनु स्तुति किये जाने पर हमारे लिये अन्न व उर्ज का दोहन करती हुई हमें प्राप्त होवे।"

इस प्रकार मन्त्रों में दैवी वाक् का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस दैवी वाक् से अव्यक्त और व्यक्त दोनों प्रकार की ध्वनियां चहुं ओर प्रसारित हो रही है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि दैवी वाक् स्वयं अव्यक्त रूप है और ध्वनिसमुद्र के समान एकरूपात्मक भी है, इस अविचेतनात्मक ध्वनि-समुद्र में मानववाक् के स्वर व्यञ्जनादि वर्ण सम्भव नहीं हैं। यह दैवी वाक् मनुष्य के मस्तिष्क में एक प्रकार की स्फुरणा व ज्ञान का उद्बोधन करती है। इसलिये अर्द्धपौरुषेयवादी यह कह सकते हैं कि एक रूपात्मक वाक् को वर्णों का चोला पहिनाना और फिर पद, वाक्य आदि में विभक्त करना मनुष्यों का कार्य है। यही सिद्धान्त वेदों पर भी लागू होता है। इसी दृष्टि से ऋ० १०।१२५ सूक्त का देवता ज्ञानम् है, वेद वा वेद वाक् नहीं।

सप्तद्वारों में व्याप्त वाक्

मनुस्मृति में मनु महाराज ने यह कहा है कि "सप्त द्वारों अर्थात् सप्तेन्द्रियों में बिखरी वाणी से अनृत न बोलो।" इसका तात्पर्य यह है कि सातों इन्द्रियद्वारों (कर्णाविमौ नासिके चक्षिणी मुखम्) में बिखरी वाणी अव्यक्त रूप है, ज्ञान-रूप है। मुख से उच्चरितवाक् इस व्यापक वाक् की एक धारा है। अतः सप्त द्वारों में बिखरी वाक् में स्वर व व्यञ्जनादि वर्णों की कल्पना करना नितान्त असम्भव है। इसी प्रकार वेद वाणी भी मुख से उच्चरित होने से पहिले अथवा सप्त द्वारों से प्रवाहित होने से पहिले ज्ञानरूप थी। जिसका मस्तिष्क में अवतरण कुछ२ स्फुरणा व उद्बोधन रूप में होता है।

मन में निहित वेदत्रयी

शिव संकल्प वाले सूक्त में एक मन्त्र आता है, जिसमें वेदों की सत्ता मन में बताई गई है। मन्त्र इस प्रकार है।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यजु. ३४।४

अर्थात् जिस में ऋक् साम और यजुः इस प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे रथ की नाभि में आरे होते हैं।

इस मन्त्र के सम्बन्ध में या तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यह मन्त्र उन व्यक्तियों के लिये है, जिन्होंने वेदों का अध्ययन कर लिया है। क्योंकि उन्हीं के मन में इनकी सत्ता मानी जा सकती है। और यदि इस मन्त्र को सर्वसाधारण जन अर्थात् मानव मात्र पर लागू किया जाये तो हमें यह मानना पड़ेगा कि ऋक्, साम और यजुः से वेदत्रयी का ग्रहण नहीं करना है। ये ऋग् आदि नामों में विभक्त मानव मात्र में निहित ज्ञान के ही तीन रूप हैं। और जो कि किसी भी भाषा में प्रकट किये जा सकते हैं। आदिम ऋषियों ने जिन को वेदत्रयी के रूप में प्रकट किया था।

वेदों का बीज ओ३म्

जिस प्रकार वट बीज में एक विशालकाय वृक्ष समाविष्ट होता है, उसी प्रकार ओ३म् अक्षर में सब वेद समाविष्ट हैं। परन्तु यहां यह बात ध्यान देने की है कि इसकी दो व्याख्यायें हो सकती हैं

एक यह कि सत्कार्यवाद की दृष्टि से वट बीज में शाखा प्रशाखाओं के सदृश समग्र मन्त्र सूक्ष्म रूप में ओ३म् अक्षर में निहित है। दूसरी व्याख्या यह हो सकती है वट बीज में वृक्ष की सब शाखा, प्रशाखादि तथा वृक्ष की आकृति व रूप आदि कुछ नहीं होते केवल बीज में वट वृक्ष को पैदा करने की एक गुह्य शक्ति निहित होती है। एक प्रकार से बीज में वृक्ष की अनिर्वचनीय सत्ता है। उसी प्रकार ओ३म् में भी वेदों की सत्ता अनिर्वचनीय सी है। अतः हम यह कह सकते हैं कि ओ३म् एक प्रकार का अद्भुत व अलौकिक पिटारा है, जिसमें सब वेद समाविष्ट हैं। यह तभी संभव है जब कि सम्पूर्ण वेद अपने व्यक्त रूप को समाप्त कर अपनी प्रकृति में लीन हो जावें। अन्यथा ओ३म् इन तीन अक्षरों में वेद का संपूर्ण व्यञ्जनात्मक जंजाल कैसे समा सकता है? इसलिये हमें यह मानना पड़ता है कि सब से पूर्व ज्ञान ही आता है और वह भी अघट् अवस्था में। यह अर्द्धपौरुषेयपक्ष की मान्यता हो सकती है।

वेद के शब्द विकास के परिणाम हैं।

अर्द्धपौरुषेय पक्ष को पुष्ट करने वाले और भी प्रमाण हैं, उनमें एक प्रमाण यह भी है कि वेद के शब्द विकसित होते हुये इस रूप में आये हैं। इसका साक्षी वैदिक साहित्य ही है। उदाहरण रूप में, कुछ ही शब्द हम यहां प्रस्तुत करते हैं—

पूर्वरूप—उत्तररूप—
धीक्षा—दीक्षा—
धीक्षित—दीक्षित—
अग्रि—अग्नि
अंगरस—अंगिरस—
अन्तर्यक्ष—अन्तरिक्ष—
उरूकर—उलूखल
अश्रु—अश्व
„ —अश्मा —

उदाहरण रूप में ये कुछ शब्द हैं, जिनका पूर्वरूप ही वेदों से पूर्व का है, इसी प्रकार के और भी अनेकों शब्द वैदिक साहित्य में भरे पड़े हैं, जो

यह सिद्ध करते हैं कि उनके पूर्वरूप विद्यमान रूपों से कुछ भिन्न थे। और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि भाषा प्रवाहशील व परिवर्तनशील होती है।

अव्यय शब्द

वैदिक व लौकिक साहित्य में कुछ शब्द ऐसे हैं जो कि अव्यय कहलाते हैं, अर्थात् जिनमें त्रिकाल में भी परिवर्तन नहीं होता। जिनके लिंग, वचन, विभक्ति आदि सब अवस्थाओं में एकसम रहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि अव्ययों के अतिरिक्त, वेद के अन्य सब शब्द परिवर्तनशील हैं, विकास के परिणाम हैं।

इस प्रकार अर्द्धपौरुषेय पूर्वपक्ष को लेकर हमने वेदों के श्रद्धालु भक्त तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों के विचार अपनी भाषा में रक्खे। अब हम अग्रिम लेख में अपौरुषेय सिद्धान्त पक्ष पर कुछ विचार अभिव्यक्त करेंगे।

—o—

अपौरुषेयवाद

ऊपर हमने यह देखा कि जिस आधार को लेकर ऐतिहासिक विद्वान् वेदों के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं, उसी आधार को लेकर अपौरुषेयवादी विद्वान् उस का खण्डन नहीं कर सकते और ना ही वेदों को अपौरुषेय सिद्ध कर सकते हैं। यदि किसी प्रकार खण्डन कर भी दें तो भी वेदों को छन्दोबद्ध मन्त्र रचना सहित पूर्णरूप में अपौरुषेय सिद्ध कर सकना अति दुष्कर है। क्योंकि वेद का यह आधार तथा उसको परखने की कसौटी ही उपयुक्त नहीं है। दूसरे वेद अपौरुषेय है यह स्थापना ही अलौकिक है। अलौकिक स्थापना की पुष्टि के लिये अलौकिक साधन ही अपेक्षित हुआ करते हैं। केवलमात्र बौद्धिक स्तर पर खड़े होकर इसकी पुष्टि करना ऋषि मुनि प्रणीत ब्राह्मण वचनों, न्याय मीमांसा आदि दर्शनों तथा सायण स्कन्द आदि भाष्यकारों के प्रमाणों की झड़ी भी लगा देना श्रद्धालु व्यक्तियों के लिये तो पर्याप्त है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों के

समक्ष निस्संकोच भाव से यह नहीं कहा जा सकता कि वेद अपौरुषेय है। क्योंकि प्राचीन प्रमाणों के आधार पर केवल इतना ही कथन किया जा सकता है कि पुराकाल में ऋषि मुनि वेदों को अपौरुषेय मानते थे। इस से यह समझ बैठना कि वेद अपौरुषेय सिद्ध हो गये, यह महान् भूल व भ्रान्ति होगी।

तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि वेदों को अपौरुषेय कैसे सिद्ध किया जाये? हमारे विचार में इस का असली समाधान अनुभूति व साक्षात्कार में है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने भी इस अलौकिक स्थापना को केवल बौद्धिक स्तर तक ही सीमित नहीं रखा था, अपितु योगसाधन द्वारा इस तथ्य को प्रत्यक्ष भी किया था। उस समय वेदों के पठन-पाठन की प्रणाली आधुनिक प्रणाली से अत्यन्त भिन्न थी। वह वेदों के साक्षात्कार पर आश्रित थी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों की भी प्रच्छन्न रूप में आज यही मांग हैं। क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में जो भी सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं,

उन्हें प्रायः प्रत्यक्ष कराया जाता है। इसलिये वेद के सम्बन्ध में भी जो कथन किये जायें, उन्हें प्रत्यक्ष की कसौटी पर कसा जाना चाहिये। यदि यह नहीं है तो वेदों का अपौरुषेयत्व श्रद्धालु व्यक्तियों के लिये केवल श्रद्धा और विश्वास का विषय रह जाता है। परन्तु हमारे विचार में यह केवल श्रद्धा और विश्वास का विषय नहीं है। जब कि पुराकाल में साक्षात्कार्त्ता ऋषि हो चुके हैं तो यह केवल बौद्धिक तर्क का ही विषय नहीं रह जाता। प्रत्यक्ष [1]ऋषि ही कर सकता है जो ऋषि नहीं है और तपस्वी नहीं है उसको वेदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि "योगी महर्षि लोग जब जब जिस-जिस के अर्थ के जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थित हुए तब तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये।" स्वामी दयानन्द का उपर्युक्त कथन निम्न मन्त्र का ही एक स्वानुभूत उद्गार है। मन्त्र में कहा है कि

१ नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा—निरुक्त।

"[१]ध्यान करते हुये पुरातन विप्र ऋषि उस मन्द्र जिह्व भगवान् को अपने सामने ले आते है।

आधुनिक काल के महान् योगी श्री अरविन्द ने लिखा है कि "वेद के वचन उन के सत्य अर्थों में केवल उसी के द्वारा जाने जा सकते हैं, जो कि स्वयं ऋषि या रहस्यवेत्ता (योगी) हो, अन्यों के प्रति मन्त्र अपने गुह्य ज्ञान को नहीं खोलते।"

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि केवल तर्क व्याकरण व यौगिकवाद के आधार पर वेदों के गुह्य वचनों (निण्यावचांसि) को पूर्णरूप से समझना व हृदयंगम कर सकना असम्भव है। कोई विरला रहस्यवेत्ता योगी व ऋषि ही मन्त्रनिहित गूढ़ रहस्यों की वास्तविक गहराई को जान सकता है। प्राचीनकाल में जो जितना अधिक ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् भूयोविद्य होता था वह उतना ही अधिक मान्य होता था। वेदान्तर्गत गुह्य रहस्यों के निर्णय में वह भूयोविद्य ऋषि ही अन्तिम प्रमाण

१ तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।

माना जाता था। तर्क व युक्ति का वहां कोई स्थान नहीं था। तर्क तो मनुष्य को उस समय मिला जब ऋषि इस पृथिवी पर से उत्क्रमण कर गये। इस से यह स्पष्ट है कि ऋषियुग में वेद के लिये तर्क का कोई स्थान नहीं था। इस सम्बन्ध में उपनिषदादि प्राचीन आर्यशास्त्रों के सम्वाद देखे जा सकते हैं। वहां एक बार एक भूमिका का प्रश्न तो किया गया है फिर उसी भूमिका में रहते हुए उत्तर प्रत्युत्तर, कांट छांट, शुष्क विवाद आदि कुछ नहीं है। अन्तिम भूमिका के सम्बन्ध में 'अतिप्रश्न' (माऽतिप्राक्षीः) नहीं हुआ करता था। परन्तु तर्क में 'अतिप्रश्न' का समावेश होना स्वाभाविक है। क्योंकि तर्क का वहीं स्थान है जहां साक्षात् दर्शन नहीं है, इसलिये वेदों के अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने के लिये असली साधन तो ऋषि बनना है। परन्तु जब तक ऋषित्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मनुष्य को तर्क व प्रमाण आदि का सहारा लेना ही पड़ता है। परन्तु वह तर्क ऊह कोटि का होना चाहिये। ऊह पर श्री पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री ने अच्छा विचार किया है। (वेदवाणी

वेदांक वर्ष १०) अतः बौद्धिक स्तर पर आरूढ़ होकर हम अपौरुषेयवाद के मण्डन व परिपोषण का प्रयत्न करते है।

अपौरुषेयत्व के प्रतिपादन व उस की पुष्टि के लिये कई साधन हो सकते है, जिन मे कुछ ये है।

१ वेदों की अन्तःसाक्षी

२ आर्ष परम्परा

३ प्रतिपक्षियों की युक्तियों का निराकरण

(क) वेदों की अन्तःसाक्षी

वेदों की अन्तःसाक्षी क्या कहती है, इस सम्बन्ध में हम एक अन्य ही दृष्टि से पूर्व भी कुछ लिख चुके हैं। अर्थात् वेद में दोनों प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं, एक वे जो कि वेदों को भगवान् से उच्छ्वसित मानते हैं और दूसरे वे जिन से यह आभास मिलता है कि वेद ऋषिकृत हैं। हमारे विचार में यह एक प्रकार का विरोधाभास है। इस विरोधाभास को अर्द्धपौरुषेय पक्ष ने अपने ढंग से हल करने का प्रयत्न किया है। यह हम पूर्व में अर्द्धपौरुषेयपक्ष पर विचार करते हुये दर्शा चुके हैं। अब विचारणीय यह है कि अपौरुषेयवादी विद्वान् इस विरोधाभास को किस प्रकार दूर कर सकते हैं?

इस सम्बन्ध में अपौरुषेय पक्ष को सब से पूर्व कई समस्याओं को सुलझाना होगा। जिन में कुछ ये हैं :—

(क) पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि

(ख) पुरातन स्तुति और नवीन स्तुति

(ग) मन्त्र-कर्त्ता और मन्त्रद्रष्टा में अविरोध

(घ) तक्षण का भाव

(ङ) भाषा विज्ञान के आधार पर वैदिक भाषा में क्रमिक विकास व परिवर्तन का निराकरण।

उदाहरणार्थ ये कुछ समस्यायें हमने ऊपर प्रदर्शित कीं। इसी प्रकार और भी कई समस्यायें हो सकती हैं। परन्तु हम यहां इन्हीं पर क्रमशः अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं--

पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि—

मन्त्रों में पूर्वऋषि व नूतन ऋषि शब्दों के आने से ऐतिहासिकों द्वारा जो यह सिद्ध किया जाता है कि मन्त्रों का निर्माण कई विभिन्न कालों में हुआ है यह ठीक नहीं। चारों वेद त्रिकालातीत भगवान् द्वारा मनुष्यों के हितार्थ दिये गये हैं। वह स्वयं कालातीत होते हुये भी त्रिकालज्ञ हैं। क्योंकि वेदज्ञान मनुष्यों के लिये है और मनुष्य काल की अवधि में रहता है अतः उसके लिये पूर्वापर नूतन व पुरातन आदि शब्दों का समावेश होना स्वाभाविक है। पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि शब्द

प्रत्येक सृष्टि काल मे युगों व सामान्य काल के स्वाभाविक पौर्वापर्य को सूचित करते हैं। इस भांति जो ऋषि पहले पैदा हुये वे पूर्व ऋषि हैं और जो बाद में पैदा हुये वे नूतन ऋषि हैं। परन्तु वेद का पूर्वऋषि शब्द हमें पारिभाषिक शब्द प्रतीत होता है। यह पूर्व ऋषि प्रायः सृष्टि के आदि युग मे होने वाले ऋषियों का वाचक है। इस सम्बन्ध में हम पूर्वऋषि नाम से पृथक् रूप में आगे विचार करेंगे। सृष्टि के प्रारम्भिक युग सत्ययुग में सृष्टि कल्प के सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यक्ति पैदा होते हैं, जो कि आगामी युगों के ऋषियों व साधारण जनों के लिये अनुकरणीय होते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक युग के ऋषि पूर्व ऋषि और उत्तरवर्ती युग व काल के ऋषि नूतन ऋषि कहलाते है। यह परम्परा सभी कल्पों में ऐसी ही रहती है। 'यथापूर्वमकल्पयत्' इससे हम यह कह सकते हैं कि पूर्व और नूतन शब्दों से सृष्टिप्रवाह के स्वाभाविक पौर्वापर्य का वर्णन हुआ है। दूसरे[1] युगकल्पना का बीज भी वेदों में विद्यमान है। सृष्टि के आदि में होने वाले

१ ऋ० १।११५।२ (युगानि) वर्षाणि कृतत्रेता-द्वापरकलिसंज्ञानि वा।

मनु महाराज व अन्य पुरातन ऋषियों से लेकर आधुनिक समय तक सभी विद्वान् वेदों मे युगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। सृष्टि का पूर्वयुग देवयुग होता है और उत्तरवर्तीयुग मानुष युग नाम से कहा जाता है। देवयुग और मानुषयुग शब्दों से ही यह ध्वनित हो रहा है कि पूर्वयुग उत्तरवर्ती युग से श्रेष्ठ होता है। वेदोत्तर साहित्य से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। प्रकृति का यह स्वाभाविक धर्म भी है कि कोई भी भौतिक वस्तु प्रारम्भ में स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल व शक्तिसम्पन्न होती है, फिर शनैः शनैः उस का ह्रास१ होता जाता है। यह प्राकृतिक नियम है। यह नियम उसी प्रकार चेतन प्राणियों पर भी लागू होता है। पृथिवी पर पूर्वयुग में उत्पन्न देव और ऋषि उत्तरवर्ती युगों के ऋषियों व मुनियों से सदा श्रेष्ठ व उन्नत होंगे। इसी कारण वेदों में जहां भी पूर्वऋषि का वर्णन आया है, उसे उत्तरवर्ती ऋषियों से उत्कृष्ट, आदर्श व अनुकरणीय रूपों में चित्रित किया गया है। अतः वेदों में पूर्व ऋषि व नूतन ऋषि का वर्णन मन्त्र-निर्माण के विभिन्न कालों को सूचित

१ ह्रास दर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्।

करने वाला नहीं है अपितु सृष्टिकल्प के युगों व सामान्यकाल की स्वाभाविक पूर्वापरता को सूचित करने वाला भगवान् का उद्गार है जो कि मनुष्यों के ज्ञान के लिये है ।

पुरातन स्तुति और नवीन स्तुति—

पूर्व में ऐतिहासिक पक्ष पर लिखते हुये हम यह दिखा चुके हैं कि संहितान्तर्गत मन्त्रों में ही नयी स्तुति व नवीन मन्त्र-रचना का विधान मिलता है । अपौरुषेय पक्ष में इस समस्या का हल यह हो सकता है कि उस आदिगुरु भगवान् ने मानव-ऋषियों को वेद-रूप में अपना अमरकाव्य सुनाकर उन्हें भी आवश्यकतानुसार नवीन मन्त्ररचना करने की प्रेरणा की । मानवप्रकृति भी कुछ २ इस प्रकार की है कि वह सदा नवीनता चाहती है । वह भगवान् को प्रदत्त वस्तु में स्वयं परिवर्तन कर देती है या नयी वस्तु घड़ लेती है । दूसरा हल यह है कि जिस समय एक भक्त अटूट भक्ति के प्रवाह में होता है तो उसके मुख से हठात् भक्ति के नये-नये स्तोत्र निकल पड़ते हैं । मध्यकाल में भक्तियुग के सन्त

कबीर, सन्त तुलसीदास व सन्त सूरदास आदि भक्तकवि इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसी मानव सुलभ प्रकृति का निदर्शन वेद मन्त्रों में नवीन स्तुति व नवीन मन्त्र रचना के रूप में मिलता है। इस में स्तुति की भाषा भक्त की अपनी बोल-चाल की भाषा ही होती है। वैदिक युग में वैदिक भाषा बोलचाल की भाषा रही है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अटूट व अव्यभिचारी भक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं कि भक्त विद्वान् ही हो। भक्ति की घनता व तीव्रता में भगवत् कृपा से मनुष्य में वह अद्भुत शक्ति व योग्यता प्रादुर्भूत हो जाती है कि मनुष्य में नयी स्तुतियों का प्रवाह उमड़ पड़ता है। इस प्रकार अपौरुषेयवादी यह कह सकते हैं कि मन्त्रों में नवीन स्तुतियों के निर्माण का जो विधान है वह इसी प्रकार की स्तुतियों के निर्माण का है। दूसरा कारण यह भी है कि ज्यों ज्यों सृष्टि अपने प्रारम्भिक सरल व सहज रूप का परित्याग कर पेचीदा व जटिल रूप को धारण करती गई त्यों २ मानव मनभी जटिल बनता

गया। वह भगवान् की सरल सृष्टि से सन्तुष्ट न रहा। उस ने जटिल सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ किया। जिस प्रकार ग्राम आदि फलों में मनुष्य ने नई २ कलमें लगा कर नाना प्रकार के फलों की किस्मों का निर्माण कर लिया है। पशु-पक्षियों में नाना प्रकार के परिवर्तन कर लिये हैं। इसी प्रकार संहितान्तर्गत मन्त्रों को लेकर व इन मन्त्रों के आधार पर उस ने नवीन मन्त्र निर्माण कर लिये तो इस में कोई आश्चर्य नहीं। जहां सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ यागादि सरल विधि विधानों से युक्त थे वहां युग-परिवर्तन के साथ-साथ मानव-प्रकृति में भी जटिलता आती गई और प्रकृति की जटिलता के साथ-साथ यज्ञ याग भी दुरूह व जटिल बनते गये। जब किसी नवीन विधि के लिये संहिताओं में तदनुकूल मन्त्र उपलब्ध न हुआ तो उन्होंने नया मन्त्र निर्माण कर लिया। इस प्रकार परिवर्तित परिस्थिति में मन्त्रों में भी परिवर्तन व नये-नये मन्त्रों की उत्पत्ति होती रही है। इस प्रकार इन्हीं उपर्युक्त तथ्यों का दिग्दर्शन संहिताओं में स्तुति यज्ञ याग आदि के लिये नवीन मन्त्र रचना की आज्ञा देकर

किया है। इस लिये मन्त्रों में नवीन स्तुति व नवीन मन्त्ररचना की आज्ञा होना इस बात का विरोधी व खण्डन करने वाला नहीं है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आदि गुरु भगवान् द्वारा वेद रूप में अमरकाव्य दिया गया था।

मन्त्र-कर्तृत्व और मन्त्रद्रष्टृत्व में समन्वय–

ऐतिहासिक विद्वानों का यह कहना है कि मन्त्रकर्तृत्व और मन्त्रद्रष्टृत्व में कोई विरोध नहीं है अर्थात् एक ही ऋषि मन्त्रकर्ता भी हो सकता है और मन्त्रद्रष्टा भी। एक प्रतिभासम्पन्न उदीयमान व होनहार नवयुवक कवि पुरातन कवियों की कृतियों का सम्यक् दर्शन व आलोचन करके अथवा प्रकृति-छटा को निहार कर व प्राकृतिक घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके ही नवीन कविता के निर्माण में प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार उस के साथ कर्ता व द्रष्टा दोनों भाव जुड़े हुये हैं, उसी प्रकार नूतन ऋषि भी प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्मित मन्त्रों का सम्यक् अध्ययन कर नवीन मन्त्र-निर्माण में जुटता है, अथवा प्रकृतिघटित घटनाओं का सूक्ष्मा-

वलोकन कर उन्हें मन्त्रों द्वारा मूर्तरूप देता है तो इस में आश्चर्यकारी व असम्भव बात ही क्या है ? यह तो एक सहज सुलभ स्वभाव का दिग्दर्शन है । एक सर्वत्र स्वतःस्थित प्रकृति नियमका प्रदर्शनमात्र है। ऐतिहासिकों का यह कहना है कि ऐसा मानने पर ही वेद के उन सन्दर्भों की सुन्दर व्याख्या हो सकती है जिन में पूर्व व नूतन ऋषियों द्वारा स्तुति तथा नवीन स्तुति के निर्माण आदि का विधान हुआ है । इस प्रकार ऐतिहासिकों की दृष्टि मे एक ही ऋषि को मन्त्रकर्ता व मन्त्रद्रष्टा दोनों रूपों में देखा जा सकता है । परन्तु अपौरुषेय पक्ष का अवलम्बन करने वाले विद्वान् के लिये यह समस्या है । उस के मत में तो ऋषि मन्त्रद्रष्टा ही है, मन्त्रकर्ता नहीं क्योंकि मन्त्र तो भगवान् के उच्छ्वास हैं और ऋषि उन के प्रकटीकरण में केवल माध्यम का कार्य करते है । अतः प्रश्न यह है कि इस अपौरुषेय पक्ष में कर्तृत्व व द्रष्टृत्व का समन्वय कैसे हो ? इस समस्या के समाधान में अपौरुषेयवादियों द्वारा जो युक्ति व प्रमाण अब तक दिये जाते हैं वे ऐतिहासिकों की दृष्टि में

नगण्य ही है, यह हम पूर्व ही स्पष्ट कर चुके हैं। उन से वेदों के ऋषि-कर्तृत्व में वे कोई बाधा नहीं मानते। अतः इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि जिस आधार पर खड़े होकर जिस दृष्टि से एक ऐतिहासिक विद्वान् वेदों का दर्शन व उसकी आलोचना करता है, उसी आधार पर स्थित होकर उसी दृष्टि से एक अपौरुषेयवादी विद्वान् को वेदों का अवलोकन नहीं करना चाहिये।

वेदों के सम्यक् दर्शन की एक पुरातन आर्ष-प्रणाली है जो कि दिव्यता व अलौकिकता को लिए हुए है। जिस आर्षप्रणाली में किसी एक सीमा तक ही प्रश्नोत्तर हो सकते हैं। अतिप्रश्न का वहां स्थान नहीं है। इसी प्रकार हम भी मन्त्र-कर्तृत्व व मन्त्रद्रष्टृत्व का विरोध-परिहार कर उन में सामंजस्य दिखाने के लिये एक अन्य ही उपाय द्वारा अलौकिकता के द्वार तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं, जो कि इस प्रकार है—कर्तृत्व और द्रष्टृत्व ये दोनों बौद्धिक प्रक्रिया के दो पहलू हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि-दर्पण के दो पार्श्व हैं। एक पार्श्व द्रष्टा का काम करता है और दूसरा कर्ता का।

बुद्धि के क्षेत्र में यदि हम दृष्टिपात करे तो हम यह देखते हैं कि बाह्यजगत् की तरंगें मनुष्य क बुद्धि दर्पण पर आकर पड़ती है, तो उस का प्रति-क्षेप व प्रतिबिम्ब मनुष्य के आधार पर विभिन्न प्रकार का होता है। सर्वप्रथम तो यह है कि साधारण मनुष्य का बुद्धि दर्पण इतना निर्मल ही नहीं कि वह प्रकृति की सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरंगों को ग्रहण कर सके। यह किन्हीं विरले व्यक्तियों का ही काम है। और ना ही उस में इतनी शक्ति होती है कि स्थूल तरंग को भी वैसा का वैसा ही प्रतिक्षिप्त कर सके। इसलिये बुद्धि दर्पण पर पड़ी वह तरंग अपने असली स्वरूप में न रहकर सामान्य जन के अपने शब्दों व कृतियों में नवीन रूप धारण कर प्रकट होती है। यह भी संभव है कि प्रतिक्षेप तो कुछ है और बाह्यप्रकाश कुछ और हो। यह सब के अपने बुद्धिदर्पण के रंग पर निर्भर है। इस के विपरीत सामान्यजन के बुद्धिदर्पण से उत्कृष्ट दर्पण सफल कवियों का व चित्रकारों का होता है। सफल-कवि व सफल चित्रकार वही होता है, जो प्रकृति के प्रतिक्षेप को बिलकुल वैसा का वैसा ही सुन्दर २

शब्दों व चित्रों में चित्रित कर देवे। परन्तु इन से भी उत्कृष्ट बुद्धिदर्पण ऋषियों का होता है। उन का बुद्धिदर्पण इतना निर्मल व स्वच्छ होता है कि १परमव्योम से बिखरी ऋचाएं उनके बुद्धिदर्पण पर जिस रूप में आकर पड़ती है, बिलकुल उसी रूप में छन जाती है। परन्तु प्रक्रिया यहां भी यही है, पहले दर्शन फिर प्रकटीकरण अर्थात् कर्तृत्व। परमव्योम से बिखरी ये ऋचाएं जब ऋषियों के बुद्धिदर्पण पर आकर पड़ती हैं तो यह ऋचाओं का दर्शन है। परन्तु जब उस दर्पण से छनकर बाहिर प्रकट होती है तब वह कर्तृत्व है। चाहे इस कर्तृत्व में अपनी ओर से कुछ भी मिश्रण व परिवर्तन न किया गया हो। संपूर्णज्ञान के प्रकटीकरण की यही प्रक्रिया है। इसी लिये ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा भी कहते हैं और मन्त्रकर्ता भी। यहां पर परमव्योम में ऋचायें बिखरी हुई है, यह

---

१ तान्यादिव प्रकीर्णान्यशेरन्, व्योमान्तो वाचः। जै. उ. १।४।१।६। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। ऋ.

अलौकिकता का क्षेत्र आ जाता है। इस सम्बन्ध में प्रश्न करना अतिप्रश्न हो जायेगा। यदि अतिप्रश्न का रूप इसे न भी मानें तो भी अलौकिकता के क्षेत्र में तो प्रविष्ट होना ही पड़ेगा। इसलिये वेदों व वैदिक साहित्य में ऋषियों को जो मन्त्रकर्ता व मन्त्रद्रष्टा कहा गया है, उस का समन्वय हमारे विचार में उपर्युक्त प्रकार से भी किया जा सकता है। इस प्रकार समन्वय करने से ऋषि मन्त्रकर्त्ता व मन्त्रद्रष्टा दोनों माने जा सकते हैं। और वेद भी छन्दोबद्ध रूप में अपौरुषेय सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु कर्तृत्व और द्रष्टृत्व में वहां ही विरोध की सम्भावना है जहां कि वेद के ऋषियों को मानव ऋषि माना जाये। और हमारे विचार में वेद के ऋषि (दर्शनात्) मन्त्रों के दिखाने वाले उपनेत्र (ऐनक) हैं। इस दृष्टि से मानव-ऋषियों के इतिहास को टटोलने की कोई आवश्यकता नहीं है। मानव-ऋषि इन उपनामों को धारण करें या न करें इससे कुछ आता-जाता नहीं। इन ऋषियों को मानवीय चोला पहिना कर उन्हें मन्त्रों का कर्ता मानें या द्रष्टा मानें बात एक ही है।

इसमे कोई विरोध नहीं, इसी की हमने 'ऋषि रहस्य' पुस्तक में पुष्टि की है ।

तक्षण का भाव—

जैसा कि हम पूर्व लिख चुके है कि इस तक्षण का सहारा लेकर अर्द्धपौरुषेयवादी विद्वान् वेदों में ऐतिहासिकता का समावेश कर देते है । संक्षेप में उन के कथन का सार यह है कि साधारण मनुष्य से लेकर ऊंचे से ऊंचे विद्वान् कवि व चित्रकार की बौद्धिक प्रक्रिया एकसमान होती है । अर्थात् बुद्धि में कुछ स्फुरणा हुई, कुछ प्रतिभा जागी, धुंधले व अव्यक्तरूप में कुछ ज्ञान की किरणें मस्तिष्क में पड़ीं, तो उस समय वह कवि अपनी ओर से सुन्दर-सुन्दर शब्दावलि देकर ज्ञान से भरपूर कविता सबके सामने ला उपस्थित करता है । एक चित्रकार अपने बौद्धिक भाव को हस्तकौशल द्वारा चित्र में अभिव्यक्त कर देता है । इसी प्रकार ऋषियों के हृदयों में वेद-ज्ञान की स्फुरणा हुई, कुछ २ आभास व दर्शन सा हुआ, तब उन्होंने अपनी ओर से सुन्दर २ शब्द देकर प्रजा के समक्ष वेदज्ञान

को ला उपस्थित किया। मन्त्रगत तक्षण (यस्माद्वोऽपातक्षन्) से अर्द्ध पौरुषेय पक्ष में यही भाव द्योतित होता है।

इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि सामान्य ज्ञान का अवतरण तथा उसका शब्दों में प्रकटीकरण तो इसी रूप में होता है। संहितातिरिक्त ऋषियों के जितने भी मन्त्र हैं बहुत कुछ इसी प्रक्रिया से अवतरित माने जा सकते हैं पर यह आवश्यक नहीं कि चारों संहितायें जो कि अपौरुषेय मानी जाती हैं, इसी प्रक्रिया से अवतरित होकर प्रकाश में आयी हों। दूसरा तरीका भी हो सकता है और वह जो कि अपौरुषेयवादी मानते हैं। अर्थात् स्वर व छन्दोबद्ध रचना सहित चारों संहिताएं भगवान् की कृपा से ऋषियों के हृदय-प्रदेश में आविर्भूत हुई। और तक्षण की समस्या का हल भी सुचारू रूप से हो सकता है। तक्षण के जो घड़ना, छीलना, तराशना आदि अर्थ हैं वे भी इस पक्ष में अक्षुण्ण रह सकते हैं। हमारे विचार में अपौरुषेय पक्ष का अवलम्बन कर तक्षण की दो व्याख्यायें की जा सकती हैं। एक तो यह कि वह

परब्रह्म व शब्दब्रह्म हमारे हृदयप्रदेश मे विद्यमान है। और उसी में सब ऋचाएं लीन व प्रतिष्ठित हैं। जिस प्रकार कुल्हाड़ी आदि से लकड़ी पर प्रहार किया जाता है उसी प्रकार "ओ३म्" आदि के उच्चारण द्वारा हृदय में प्रहार होता है। यह प्रहार ही तक्षण है। यदि ओ३म् रूपी कुल्हाड़ी को साधन न भी बनाया जाय तो भी मन व उसके हृदयप्रदेश में बार २ एकाग्र करने मे भी एक प्रकार का प्रहार है। यह प्राण द्वारा संशित होना है (प्राणसंशितमसि) यह प्रहार व तक्षण परब्रह्म में लीन वेदों को पृथक् करने के लिये है, न कि मन्त्र-निर्माण व शब्द-विन्यास आदि के लिये है। इस तक्षण का प्रभाव यह होता है कि स्वरसंहिता छन्दोबद्ध मन्त्र उस परब्रह्म से पृथक् होते हैं और मनुष्य को इन का दर्शन व श्रवण होता है।

अब इस तक्षण का दूसरा भाव क्या है यह देखते है। तक्षण का दूसरा भाव उस समय अधिक स्पष्ट होगा जब कि हम ब्राह्मणादि ग्रन्थों की वेदोत्पत्ति सम्बन्धी विशिष्ट शैली को समझ लें। उस शैली में भगवान् को प्रकृति व सृष्टि से पृथक् न कर पुरुषोत्तम रूप में ग्रहण किया गया है।

अर्थात् १उस परमपुरुष भगवान् का द्युलोक सिर है, अन्तरिक्ष हृदय है, पृथिवी उदर व पैर है। और इन तीनों लोकों का एक २ वेद से सम्बन्ध है। पृथिवीलोक का ऋग्वेद है, अन्तरिक्ष का यजुर्वेद और सूर्य का सामवेद।" जिस प्रकार पृथिवी पर प्रत्येक पदार्थ त्वष्टा भगवान् की तक्षण क्रिया द्वारा प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार ऋचायें भी तक्षण प्रक्रिया द्वारा बाहिर प्रकट हुई, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऋचाओं का तक्षण कौन करता है? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि तक्षण भगवान् और ऋषि दोनों ही करते हैं। ध्वनि समुद्र में अर्थात् शब्द ब्रह्म में आद्य स्फोट जो कि वेदों के रूप में प्रकट हुए है, वे त्वष्टा भगवान् की तक्षण की महिमा है। यह भगवान् द्वारा वेदों का तक्षण है। जब इन ऋचाओं की ध्वनि द्वारा साम्यावस्था में विद्यमान प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न हुआ तो ऋचाओं से पृथिवी व पार्थिव पदार्थों का निर्माण हुआ, याजुष मन्त्रों से

---

१ अथर्व. १०।७,८ स्कम्भ सूक्त।

अन्तरिक्ष का और साम मन्त्रों से सूर्य व द्युलोक का। ध्वनि से संसारोत्पत्ति का सूक्ष्म विवेचन हमें ब्राह्मणादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उन शास्त्रों के कुछ वचन ये हैं। १"ऋचाओं से संसार की समग्र मूर्तियां उत्पन्न हुई हैं, २ऋचाओं से भू यह क्षरित हुआ और वह पृथिवीलोक बना, यह ३भूलोक ही ऋग्वेद है" इसी प्रकार अन्य वेदों से अन्य लोकों का निर्माण हुआ है। अब इससे यह परिणाम निकला कि मन्त्र ध्वनि होती रही और प्राकृतिक घटक बनते रहे। एक प्रकार से प्राकृतिक घटकों और मन्त्रों में अभेद भाव हो गया। अब ऋषियों ने अपने तप व ध्यान के बल से मन्त्रों को प्राकृतिक घटकों से पृथक् करके ग्रहण किया। प्राकृतिक घटकों से इन ऋचाओं का पृथक् करना ही तक्षण

---

१ ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः।
तै. उ. १२।६।१।

२ भूरित्यृग्भ्योऽक्षरत् सोऽयं पृथिवी लोकोऽभवत्॥ ष. १।५।

३ अयं लोकः ऋग्वेदः।। ष. ब्रा. १।५।
ऋक सम्मिता वा इमे लोकाः। कौ ११।१।

करना है। अर्द्धपौरुषेय पक्ष पर लिखते हुए हमने ऋ० १०।७१ सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की थी। इस व्याख्या में हमने प्रथम मन्त्र का अर्थ भी अविकल रूप से दिया था जो कि आधुनिक वेद के विद्वानों के अनुकूल था। इस व्याख्या में हमने साथ ही तत्संबन्धी ऐतरेयारण्यक के विवरण तथा द्वितीय मन्त्र की व्याख्या को संगत कर अर्द्ध-पौरुषेय पक्ष को पुष्ट करने वाला परिणाम निकाला था। परन्तु इस सूक्त पर गम्भीर विवेचन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि वह सही नहीं था। हमारे विचार में इस सूक्त में अर्द्धपौरुषेय पक्ष को पुष्ट करने वाला कोई भी अंश नहीं है। अर्द्धपौरुषेय पक्ष की भ्रान्ति का कारण यह है कि प्रथम मन्त्र का अर्थ व भाव हम सही नहीं करते। इस सूक्त में वेदाविर्भाव व अजन्मा भगवान् द्वारा आदि ऋषियों के नामकरण का वर्णन नहीं है ऐसा हमें समझना चाहिये। यह सूक्त एक तो उपनयन संस्कार से लेकर भविष्य में बच्चों के वेदों के पठन-पाठन का व ज्ञानप्राप्ति का सामान्य रूप से वर्णन करता है। जिसकी पुष्टि आश्वलायनश्रौतसूत्र के "तन्मा-

तापितरौ विद्यातामोपनजनात् " इस सूत्र से होती है। और दूसरे यह सूक्त बृहद्देवता की दृष्टि में परब्रह्म की प्राप्ति का दिग्दर्शक है। यदि हम इस सूक्त में एक विशिष्ट प्रक्रिया जो कि आदिसृष्टि में घटित हुई थी को मानें अर्थात् यदि हम इसमें अजन्मा भगवान् द्वारा आदि ऋषियों के नामकरण संस्कार व उनमें वेदाविर्भाव का वर्णन मानें तो दूसरे मन्त्र के आधार पर उन ऋषियों में (सक्तुमिव तितउना पुनन्तः—. वाचमक्रत) सामान्य मनुष्यों की तरह ज्ञान के अवतरण तथा वाणी के शोधन की प्रक्रिया को स्वीकार करना होगा। उससे हम बच नहीं सकते। इसलिये हमें आश्वलायन व ऐतरेयारण्यक आदि शास्त्रों के आधार पर यह स्वीकार करना चाहिये कि इस सूक्त मे बच्चों के नामकरण व उपनयन संस्कार से लेकर वेदादि शास्त्रों के ज्ञान की उपलब्धि का वर्णन हुआ है। अतः मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—

(बृहस्पते) हे वाचस्पति गुरु ! ये बच्चे (प्रथमं) इस उपनयन संस्कार से पहिले तुम से

(नामधेयं दधानाः) नाम को धारण कर (वाचोऽग्रं यत् प्रैरत) शुरु शुरु में जो वाणी को प्रेरित किया तो (एषां) इन बच्चों का (श्रेष्ठं) श्रेष्ठ (अरिप्रं) दोष रहित (गुहानिहितं) हृदय या मस्तिष्क गुफा में निहित जो ज्ञान (आसीत्) था (तत्) वह (प्रेणा) आप की प्रेममयी प्रेरणा से (आविः) प्रकट होना शुरु हो गया ।

इस प्रकार मन्त्र का यह उपर्युक्त भाव हमें यहां प्रतीत होता है । यह अर्थ करने से किसी प्रकार का दोष नहीं आता । इसी प्रकार २य मन्त्र में वाणी के दोषों के परिहार के लिये छलनी से सत्तु छानने की जो उपमा दे रखी है, वह भी स्वाभाविक हो जाती है ।

आगे "शब्द ब्रह्म और वेद" शीर्षक में जो विचार अभिव्यक्त किये हैं उनका विशद विवेचन व उन पर विस्तृत विचार हमने "वैदिक वाक्" नाम से पृथक् रूप में किया है । यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि "दैवीवाक्" की सत्ता मनुष्य से उर्ध्व की है । मनुष्य बुद्धि उसे समझ नहीं

सकती। उसके समझने के लिये एक विशेष साधना व ऋषि बनने की आवश्यकता है।

मन्त्रों के ऋषि और देवता—

मन्त्र व सूक्त के प्रारम्भ में जो ऋषि व देवता दिये गये हैं, उनका उस स्थल पर पारिभाषिक रूप है। और वह इस प्रकार है—

देवता– मन्त्र में जो शक्ति व पदार्थ आदि वर्णनीय विषय होता है, या यूं कह सकते हैं कि मन्त्र का जो केन्द्रबिंदु होता है वह देवता होता है।

ऋषि– उस वर्णनीय विषय व उस केन्द्रबिन्दु को दर्शाने वाला ऋषि होता है।

इस दृष्टि से कई वस्तुयें ऋषि भी हो सकती हैं और देवता भी। जिस समय वे देवता हैं उस समय वे स्वयं वर्णनीय विषय हैं और जब वे किसी अन्य वस्तु के दर्शाने वाले बन जाते हैं तब वे ऋषि कहलाते हैं। परन्तु यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि बाह्य संसार में व्यक्तिरूप में विद्यमान चेतन देवता व ऋषियों का इससे व्याघात नहीं होता। जिसका विवेचन हम आगे करेंगे।

—o—

देवता-ऋषि-सम्बन्ध

वेद के देवता और ऋषि का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? मन्त्रार्थ में इनके सम्बन्ध पर विचार करने की आवश्यकता है कि नहीं ? क्या मन्त्रार्थ में ऋषियों का स्वरूप स्पष्टीकरण सहायक हो सकता है कि नहीं है इत्यादि तत्सम्बन्धी अनेकों विषय विचारणीय हैं इन विषयों पर हम सोदाहरण फिर कभी लिखेंगे। यहां केवल इतना निर्देश करना उपयुक्त समझते है कि वेदों में देव, ऋषि, असुर पितर व मनुष्य आदियों का इस प्रकार वर्णन मिलता है कि वेदों व वैदिक साहित्य का स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति पर यह प्रभाव पड़ता है कि ये सब पृथक् २ हैं सृष्टि में इनकी पृथक् २ सत्ता है। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि इनका स्वरूप क्या है और इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? हमारा विचारणीय विषय तो वेद के देवता और ऋषि का परस्पर सहायता की दृष्टि से क्या सम्बन्ध है, यह देखना है। पर कुछ थोड़ा बहुत देव, असुर व पितर आदि पर भी संकेत किये देते है। इस सम्बन्ध

में हम केवल ऊहापोह करते है किसी निर्णय पर हम अभी तक नहीं पहुंच सके है, इसलिए कोई यह न समझे कि यह हमारी मान्यता है ।

वैदिक साहित्य द्वारा भेद-निरूपण

वेदों व वैदिक साहित्य में हमें ऐसे कई स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते है । जिन से यह प्रतीत होता है कि इन में परस्पर बहुत भेद है । वह भेद क्या है, कितना है, और किस रूप का है ? यह स्पष्ट रूप में समझने के लिए आवश्यक है कि इन सब पर पृथक् पृथक् रूप में विस्तृत विचार किया जाये । परन्तु इस पुस्तक में यह संभव नहीं है, इसलिए हम यहां पर संक्षेप में कुछ संकेत किये देते है ।

जैसा कि हम पूर्व मे दर्शा चुके है कि वेदों का धरातल सूक्ष्म है अर्थात् सूक्ष्म-जगत से इनका प्रमुख सम्बन्ध है । इसी प्रकार इन मनुष्य ऋषि, पितर आदि का रहस्य भी सूक्ष्म जगत् में ही पहुंचकर स्पष्ट हो सकता है । मनुष्य, ऋषि व देव आदि जगत् के सूक्ष्म प्राण है । मनुष्य में यह विशेषता

है कि जिस व्यक्ति में जो प्राण जिस समय अधिक प्रबल होता है, वह उसी नाम से संबोधित किया जा सकता है, या वह उन प्राणों के आधिपत्य में होता है। सृष्टि के सब जीवधारियों को हम इन प्राणों के अन्तर्गत ला सकते है। परन्तु यह सब होते हुए भी प्राय: मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन में प्रमुख रूप से किसी एक ही प्राण के आधीन रहा करता है।

जिस प्रकार मानव पिण्ड में प्राण अपान व समान आदि सब प्राण शरीर में सर्वत्र उपलब्ध होते हुए भी इनका केन्द्र-बिन्दु व स्तर पृथक् २ है, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में मनुष्य, ऋषि, पितर, देव और असुर आदि सर्वत्र प्राण घटबढ़ रूप में रहते हुए भी इनका प्रमुख केन्द्र सृष्टि के विभिन्न स्तरों पर है। उनकी गतियां भी भिन्न २ हैं। यह विषय और तत्सम्बन्धी अनेकों रहस्य ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा अन्य शास्त्रों में प्रचुर मात्रा में दर्शाये गये है। इस विषय को हम आगे स्पर्श करने का प्रयत्न करेंगे। यहां हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि

मनुष्य व मनुष्य से निचले स्तर के प्राणी शरीर से बद्ध होते हैं। परन्तु मनुष्य से ऊपर ऋषि, असुर व देव प्राणों में निवास करने वाली आत्मायें शरीर से बद्ध नहीं होतीं। शरीर उनका एक प्रकार से खोल ही होता है। उनका सारा कार्य व्यवहार सूक्ष्म प्राण द्वारा बहुत व्यापक रूप मे होता है। शरीर वहां नगण्य होता है। इसलिए इन पर विचार करते हुए शरीर व शारीरिक अंगों को प्रमुख नहीं मानना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य के समग्र कार्य व्यवहार में स्थूल शरीर प्रमुख होता है। कार्य की पूर्णता, अपूर्णता, साधुता व असाधुता में स्थूल शरीर निर्णायक होता है, उसी प्रकार ऋषि, असुर व देव आदि के कार्यों में प्रवृद्ध शक्ति-सम्पन्न सूक्ष्म शरीर ही साधन होता है। अतः ये ऋषि आदि मानव शरीर मे भी रह सकते हैं। मानवेतर शरीर मे भी हो सकते हैं। शरीर के बिना भी कार्य व्यवहार कर सकते हैं। इस प्रकार ऋषि देव, असुर, पितर, गन्धर्व आदि मुख्य रूप से सूक्ष्मप्राण हैं। सृष्टि के विभिन्न स्तरों पर ये प्राण समुद्र हैं। जिन में सृष्टि की उत्कृष्ट व प्रबल

आत्माएं विद्यमान है। इन प्राणों द्वारा वे अपना समग्र कार्य करती है। अतः इन्हे भी ताद्धर्म्य से व तदाकारतया इन्हीं नामों से संबोधित किया जाता है। अब हम वेद मन्त्रों व अन्य प्रमाणों द्वारा इन पर विचार करते है।

अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्यां असुरानुत ऋषीन्। अथर्व० ८।६।२४।

उस विराट नामक गौ ने देव, मनुष्य, असुर और ऋषि इन चारों को चार प्रकार से तृप्त किया।

वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराःपितर ऋषयः। अथर्व० १०।१०।२६।

वशा ही देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि यह सब बनी।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाऽप्सरसश्च ये ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति। अथर्व० १०।६।६

हे शतौदना गौ! देव पितर मनुष्य गन्धर्व और अप्सराएं ये सब तेरी रक्षा करेंगे।

यं देवा पितरो मनुष्या उपजीवन्ति।

अथर्व० १०।६।३५

जिसके आश्रय से देव पितर और मनुष्य जीवन धारण करते हैं।

देवा मनुष्याः पितरस्तेऽन्यत आसन्नसुरा रक्षांसि पिशाचास्तेऽन्यतः।

तै० सं० २।४।१।१,७।४।१

अर्थात् युद्ध में देव मनुष्य और पितर एक ओर थे और राक्षस और पिशाच ये दूसरी ओर थे।

इस प्रकार उदाहरणार्थ कुछ मन्त्रपद व अन्य उद्धरण हमने ऊपर प्रदर्शित किये, जिन से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ये विभिन्न शक्तियां हैं। इनमे परस्पर भेद है। इस प्रकार के अनेकों प्रमाण वैदिक साहित्य मे भरे पड़े हैं। तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण से हमें यह भी संकेत मिलता है कि मेल व संगति (हारमनी) की दृष्टि से इन प्राणों व शक्तियों को देव और असुर इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। देव पितर और मनुष्य ये देव विभाग में हैं और असुर राक्षस और पिशाच ये असुर विभाग में हैं। सृष्टि में इनके विभिन्न धरातल व विभिन्न स्तर होते हुए भी ये

सब प्राण शक्तियां मानव शरीर में एकत्र समाविष्ट हैं।

देव और मनुष्य

देव क्या है ? इनकी सत्ता है कि नहीं ? इनका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इत्यादि कई विवादास्पद प्रश्न हैं जिनका यहां पूर्ण समाधान कर सकना अति दुष्कर है। यह वही व्यक्ति कर सकता है जो देव और असुर आदि सूक्ष्म शक्तियों को अपने दिव्य चक्षुओं से प्रत्यक्ष कर चुका हो। हम जैसे सामान्य व्यक्तियों के लिए वेद का यह आदेश है--यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड। अथर्व० ११।२।२८ देवों की सत्ता है ऐसी जो श्रद्धा रखता है, हे रुद्र ! तू उसको दोपायों और चौपायों द्वारा सुखी कर।

उपर्युक्त मन्त्र में यह स्पष्ट कह दिया है कि देवों की सत्ता श्रद्धा का विषय है। चाक्षुष-प्रत्यक्ष में श्रद्धा का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं हुआ करती। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि ऐसे देव हैं जिनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

तै० सं० में आता है कि "परोक्षं वा अन्ये देवा इज्यन्ते प्रत्यक्षमन्ये । प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः । देवदूता एते । तै० सं० १।७।३।१

परोक्ष-यजन अन्य देवों का है और प्रत्यक्ष-यजन अन्य देवों का । प्रत्यक्ष-यजन जिनका होता है वे पृथिवी के ब्राह्मण हैं । ये देवों के दूत हैं ।

[१]शास्त्रों में दैवी प्रजा और मानुषी प्रजा को पृथक् ही माना है यह हम पूर्व में भी दर्शा चुके हैं । [२]आदि युग में इस पृथिवी पर देव और मनुष्य दोनों ही थे । दोनों साथ-साथ रहते थे । प्रारम्भ में देव भी [३]मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा थे । परन्तु अपनी विद्या व तपोबल आदि से इस पृथिवी लोक से ऊपर उठ गये और देव [४]लोक में जा पहुंचे । वैदिक

---

१ दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु । कपि० २८।६ ।

२ उभये ह वा इदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च। श० प० २।३।४।४ कौ० ब्रा० १।१ ।

३ श० प० ११।१।२।१२, २।३।६ ।

४ स (प्रजापति) आस्येनैव देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त तद्देवानां देवत्वम् । श० प० ११।१।६।७

साहित्य में इस सम्बन्ध में प्रभूत प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मनुष्य इन देवों से इह लौकिक व पारलौकिक सुख समृद्धि की याचना करता है और वे देते भी हैं। जिस प्रकार पशु मनुष्य के भोग्य है उसी प्रकार मनुष्य देवों का उपभोग्य पशु है। [1]उपनिषदें इस तथ्य की ओर स्पष्ट निर्देश कर रही हैं।

देव और असुर

अब विचारणीय यह है कि देव और असुर क्या है और इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? देवों के समान असुर भी सूक्ष्म शक्तियां हैं सूक्ष्मप्राण हैं और सामान्य मनुष्य से उत्कृष्ट हैं। जब इन आसुरी शक्तियों का कार्य क्षेत्र स्थूल जगत् व आयतन स्थूल शरीर होता है तब भी ये सामान्य कोटि के मनुष्य से उत्कृष्ट होती हैं। रामायण, महाभारत और पुराण आदि में इस सम्बन्ध में भरपूर प्रमाण

---

१ तद् यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां यथा पशुरेव स देवानाम्। बृ० उ० १।४।२।

उपलब्ध होते हैं। युद्ध में राम द्वारा रावण के निहत हो जाने पर मन्दोदरी का जो विलाप है वह इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण है। १इसी प्रकार रावण आदि के उद्गार भी यह बात सिद्ध करते हैं कि असुर व राक्षस आदि प्राण सामान्य मनुष्य से उत्कृष्ट योनियां हैं। यहां यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि देव, असुर व ऋषि आदियों पर विचार करते हुये स्थूल शरीर को बीच में नहीं लाना चाहिए क्योंकि उनमें वह नगण्य रहते हैं। देव,

---

१ स त्वं मानुषमात्रेण रामेण युधि निर्जितः।
न व्यपत्रपसे राजन् किमिद राक्षसेश्वर.।
बा रा.युद्ध. ११३।५।
कथं भयमसबुद्ध मानुषादिदमागतम् बा. रा. युद्ध. ११३।४२।
सर्व तत् खलु मे मोघं यत्तप्तं परमं तपः
यत्समानो महेन्द्रेण मानुषेण विनिर्जित.॥
युद्ध. ६०।५
इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जित विभुवनं त्वया।
युद्ध. ११३।१५

असुर व ऋषि आदि अपने महान् व उग्र तप के द्वारा सूक्ष्म शरीर को सक्रिय करते हैं। उनके कार्य व्यवहार का साधन सूक्ष्म शरीर होता है व्यापक प्राण होते हैं। ये विषय बहुत व्यापक हैं। इनकी गहराई में न जाकर हम यहां केवल इतना ही देखते हैं कि वेद देव और असुर में क्या भेद बताता है? वेद के आधार पर देव और असुर का भेद दिखाना बहुत कठिन है। क्योंकि वेदों में [१]अग्नि इन्द्र, वरुण, रुद्र व सविता आदि प्रायः सभी देवों को असुर शब्द से सम्बोधित किया गया है और फिर देव यज्ञों के रक्षक तथा असुर यज्ञों के विघातक हैं यह भी बात नहीं है। क्योंकि संहिताओं में देवों को भी [२]यज्ञों का विघातक कहा गया है, और असुरों को यज्ञों का करने वाला। एक मन्त्र में

---

१ ऋ० ३।३।४,१।५४।३,३।३५।७,१०,
२।२७।१० आदि।

२ ये देवा यज्ञहनो यज्ञमुषः पथिव्यामध्यासते।
„ „ „ अन्तरिक्षे" ।
„ „ दिवि „ तै. स. ३।५।४।

आता है कि पूर्वे १देव असुरत्व की प्राप्ति के इच्छुक थे। देवताओं का असुरत्व क्या है इसका निर्णय स्पष्टीकरण ऋग्वेद ३।५५ सूक्त में किया गया है। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में "महद् देवानामसुरत्वमेकम्" यह पद दिया गया है। असुरत्व क्या है? इसका निर्णय निरुक्त में इस प्रकार किया गया है—"असुरत्वमेकं प्रज्ञावत्वं वा अनवत्वं वा" नि० १०।३४ अर्थात् असुरत्व में श्रेष्ठ प्रज्ञा तथा प्रबल प्राण शक्ति होती है "यां मेधामसुरा विदुः- तां मय्यावेशयामसि अथर्व ६।१०८।३ यहां आसुरी मेधा को प्राप्त करने का विधान किया है।

इन सब प्रमाणों के होते हुए असुरों को विनाशक शक्ति ही मानना तथा देवों को श्रेष्ठ व निर्माणात्मक शक्ति ही मानना असंभव सा प्रतीत होता है। जिस आसुरीमेधा को श्रेष्ठ मान कर उसकी प्राप्ति का विधान मन्त्र में किया गया है उसी आसुरी मेधा को आर्यों की इरानी शाखा ने अहुरमज्दा के रूप में स्वीकार किया था। इसलिए हम कह सकते

---

१ देवाश्चित् ते असुर्याय पूर्वे०। ऋ.७।२१।७

है कि देवों के ही देवत्व और असुरत्व ये दो रूप होते हैं। उसमें असुरत्व का एक बड़ा भाग होता है (देवानां एक महत् असुरत्वम्)। परन्तु वे ज्यों ज्यों असुरत्व की ओर अधिक झुकते जाते हैं और देवत्व उनमें कम होता जाता है, जैसा कि ऋ० ७।२१।७ में कहा गया तो उस अवस्था में वे देव न रह कर केवल असुर ही होते हैं। इसी दृष्टि से मन्त्र में कहा गया है कि "अनायुधासो असुरा अदेवा." ऋ० ८।९६।९ अर्थात् वे असुर जो देव नहीं हैं (अदेवाः) वे आयुध रहित हो गये ऐसा वर्णन आता है। यहां हमें अनित्य इतिहास न देखकर संसार की क्रमिक वृद्धि व ह्रास व क्रमिक परिवर्तन जो कि सभी सृष्टियों में स्वाभाविक है उसका दिग्दर्शन समझना चाहिए। इससे एक यह भी ध्वनि निकलती है कि श्रेष्ठता व उपादेयता के लिए असुरत्व के साथ-साथ देवत्व का होना भी आवश्यक है। जहां असुरत्व के साथ देवत्व नहीं है वहां 'असुर' शब्द बुरे अर्थों में प्रयुक्त समझना चाहिए। इसलिये असुर शब्द बुरे अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है यथा "निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन्" ऋ० १०।१२४।५

आदि प्रयोग हुए हैं। इसलिए जो पूर्व देव असुरत्व के लिए प्रयत्न करने लगे और अपने देवत्व रूप को भूल गये, वे ही असुर बन कर यज्ञ के विघातक बने। उन्हें ही तैत्तरीय संहिता में 'यज्ञहनः' यज्ञमुषः' आदि पदों द्वारा स्मरण किया गया है। किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि असुर मनुष्यों से भी क्षीण शक्ति वाले व अत्यन्त हेय हैं। वे देवों के तुल्य सूक्ष्म शक्ति हैं। उनकी स्पर्धा देवों से ही है मनुष्यों से नहीं। श.प. ब्रा. ११।१।६।७,८ में देवप्राण और असुर प्राण का भेद बताया है जो कि निम्न शब्दों में है "तस्मै ससृजानाय दिवेवास तद्वेव देवानां देवत्वम् अथ योऽयमवाङ् प्राणः तेनासुरानसृजत तस्मै ससृजानाय तम इवास" अर्थात् देवों के सर्जन में द्यु है प्रकाश है ज्योति है असुरों के सर्जन में तम है। दिवेवास तदहरकुरुत. . तम इवास तां रात्रिमकुरुत" जो दिन में कार्य करते हैं ज्योतिरूप हैं वे देवकोटि में आते हैं श.प. ११।१।६।११ और जिन व्यक्तियों का तथा हिंस्र पशुओं आदि का स्वाभाविक कार्य रात्रि में होता है वे आसुरी कोटि में आते हैं। एक मन्त्र में विश्वकर्मा भगवान् को देवों व असुरों से परे बतलाया

गया है। "परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति" ऋ० १०।८२।५ अर्थात् वह विश्वकर्मा भगवान् देवों और असुरों दोनों से परे है। इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि भगवान् के परत्व अर्थात् श्रेष्ठत्व के दिखाने के लिए देवों के साथ असुरों का भी ग्रहण किया है। इस प्रकार संक्षेप में हमने देव और असुर पर विचार किया। वेदों व वैदिक साहित्य के आधार पर इनसे संबन्धित अनेकों विषयों पर विचार हो सकता है। पर ऋषियों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यहां इतना ही पर्याप्त है। हां, असुर प्रमुख रूप से प्राण की शक्तियां हैं यह अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए।

देव–ऋषि–मनुष्य

मनुष्य मनु की सन्तान है। पर प्रायः मनुष्य मन के अतिस्थूल स्तर पर निवास करते हैं। प्राण वासनाओं से ताड़ित हो इधर उधर मारे-मारे फिरते हैं। वे पंचभौतिक स्थूल शरीर से आबद्ध होते हैं पर ऋषि और देव नहीं। ऋषियों और देवों का सूक्ष्म शरीर व्यापक होता है और

वह सक्रिय होता है। मनुष्य की ऐन्द्रियिक शक्ति सीमित व परिमित होती है पर ऋषियों और देवों की अपरिमित व निःसीम होती है। इनका ऐन्द्रियिक ज्ञान,देश,काल व वस्तु आदि से परिच्छिन्न नहीं होता। परन्तु देव ऋषि, और मनुष्य का वास्तविक स्तर व भेद हम दिखाना चाहें तो यह कह सकते हैं कि ऋषि देवों और मनुष्यों के मध्य की श्रेणी है। जिस प्रकार वेदों में ऋषि देवताओं को दिखाने के लिए ऐनक का काम करते हैं, उसी प्रकार चेतन सृष्टि में ऋषि लोग मनुष्यों को देवों का ज्ञान कराते हैं। वेद में इन्हें देवों का 'सधमाद' कहा गया है। १सधमाद का भाव यह है कि वे देवों के साथ दिव्य आनन्द का उपभोग करते हैं। जैसे कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं कि देवप्राण की गति ऊर्ध्व को है अतः देवों का निवास ऊर्ध्व में द्युलोक में है। और ऋषि प्राण का अर्वाङ् अयन है, अर्थात् ऋषि ऊर्ध्व से,

---

१ त इद्देवाना सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ऋ० ७।७६।४।

देवों के पास से शक्ति, ज्ञान आदि ले कर मनुष्यों की ओर आते हैं। अत एव ब्राह्मण के अनुसार ऋषि की पहचान यह है कि देव उसे जानते हों। एक समय की बात है कि "१सरस्वती नदी के किनारे भृगु, अंगिरा आदि ऋषि सत्र नामक यज्ञ में विराजमान थे। वहां इलूषा का पुत्र कवष भी आ पहुंचा। उन्होंने उसको सोमयज्ञ से यह कह कर बाहिर निकाल दिया कि यह दासीपुत्र, जुआरी अब्राह्मण हमारे मध्य में कैसे दीक्षा प्राप्त कर सकेगा? यह विचार कर उन्होंने उसे रेगिस्तान में पहुंचा दिया जिससे कि प्यासा वह तड़प तड़प कर मृत्यु मुख में पहुंच जाये और सरस्वती का पवित्र जल वह न पी सके। रेगिस्तान में पिपासाकुलित हो उसने "अपोनप्त्रीय" मन्त्रों का साक्षात् दर्शन किया। इससे वह जलों के प्रियधाम को प्राप्त हुआ। जल उसके निकट पहुंचे और सरस्वती भी दौड़कर उसके चारों ओर प्रवाहित

---

१ ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत०।
ऐ० ब्रा० २।१९

होने लगी। ऋषियों ने जब यह देखा तो वे बोले कि देवता इसे जानते है, (ते वा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वा इमं देवाः ऐ० ब्रा० १-१६) लाओ! इसे बुला लेवें। इसी कारण इन अपोनप्त्रीय आदि कई सूक्तों का यह 'कवष ऐलूष' ऋषि माना जाता है। यह इसलिए कि वह मन्त्रों के रहस्य को जानता है। देवताओं को जानता है और देवता इसे जानते है और यह ब्रह्माण्ड व पिण्ड में मन्त्रोक्त कार्य करवाने की क्षमता रखता है। इस कथानक से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

एक तो केवल बौद्धिक मन्त्रार्थ-ज्ञान व देवता-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। मन्त्रदर्शन का जो भाव आजकल लिया जाता है वह ठीक नहीं है। मन्त्रों में शक्ति है, मन्त्र मे प्रतिपादित देवता रहस्य को जानकर साधना द्वारा मन्त्र-निहित-शक्ति को आत्मसात् करना और उस शक्ति को क्रियारूप मे परिणत कर सकना, देवता सम्बन्धी पूर्णज्ञान की सच्ची परख है। इसी तथ्य को ऐतरेय ब्राह्मण१

---

१ ऋषयो वै सत्रमासत तेषां यो वर्षिष्ठ आसीत्तमब्रुवन्। सुब्रह्मण्यामाह्वय त्वं नो नेदिष्ठाद्देवान् ह्वयिष्यसीति। ऐ० ब्रा० ६।३।

६।३ में परिपुष्ट किया गया। वहां आता है कि ऋषि सत्र में विद्यमन थे उन में जो वृद्धतम व सर्वश्रेष्ठ था उससे बोले कि हे भगवन्! तुम सुब्रह्मण्या को आवाहन करो! क्योंकि तुम देवों को अत्यन्त निकट से आवाहन कर सकते हो।

इस आधार पर मन्त्रदर्शन, देवता-ज्ञान, तथा मन्त्रार्थ-ज्ञान का वास्तविक भाव क्या है यह हमें खूब अच्छी प्रकार जान लेना चाहिये।

देवता असुर पितर और पशु आदि कोई भी मानवेतर प्रजा प्राजापत्य नियमों का अतिक्रमण नहीं करती है केवल एक मनुष्य ही है जो कि अतिक्रमण करता है। कहा भी है—"ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाम्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरः न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति।श.प.।२।४।२।५,६

—०—

अग्नि और ऋषि

अग्नि द्वारा ऋषित्व की प्राप्ति

अग्नि बहुत व्यापक देवता है। सभी देवता इसी के विभिन्न रूप हैं (ऋ. २।१सू.)। ब्रह्माण्ड-गत शक्तियों अर्थात् देवी देवताओं को समझने, उन्हें प्राप्त करने के लिये भी अग्नि से ही प्रार्थना करनी पड़ती है। पृथिवी पर जन्म धारण करने के लिये जीवात्मा को सब से पूर्व अग्नि की स्तुति करनी होती है (अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ऋ. १।२३।२)। वेदों में प्रवेश पाने के लिये भी सर्वप्रथम अग्नि का ही द्वार खट-खटाया जाता है। कहने का भाव यह है कि इस ब्रह्माण्ड में यह अग्नि अनेकों रूपों में प्रकट हो रही है। मानव शरीर में भी यह अग्नि विविध स्थानों में विविध रूपों को धारण किये हुये है। (अग्ने धर्मानि बिभृता पुरुत्रा ऋ. १०।८०।४)। इस प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड में अग्नि के विविध रूपों का दर्शन हमें वेद द्वारा होता है। अग्नि का कौनसा विशिष्ट रूप सृष्टि में कहां कार्य कर रहा है, इसका निर्णय हम ऋषि और छन्द

की सहायता से कर सकते हैं। अग्नि के किस विशिष्ट रूप को ऋषि अपने में समिद्ध व प्रदीप्त करना चाहता है, यह उस ऋषि के स्वरूप निर्धारण से ही स्पष्ट हो सकता है। इस लिये ऋषित्व प्राप्ति के रहस्य को समझने के लिये सर्वप्रथम हम अग्नि पर ही विचार करते हैं। अग्नि के आविर्भाव व उस को समिद्ध व प्रदीप्त करने के अनेकों उपाय वैदिक साहित्य में भरे पड़े हैं। परन्तु हम यहां उन सब पर विचार न कर जिन मन्त्रों में ऋषि शब्द आ गया है, उन्हीं को लेकर देवता और ऋषि के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

अग्नि देवता

मनुष्य को ऋषि बनाने में अग्नि का प्रमुख स्थान है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक जितने भी ऋषि कोटि के व्यक्ति हुये हैं, उन सब ने अग्नि की उपासना अवश्य ही की है। ऋचा कहती है कि "उस [1]अग्नि को पूर्व ऋषियों ने स्तुति की

---

१. अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवां एह वक्षति ॥ ऋ. १।१।२

और नवीन ऋषि भी उस की स्तुति करते हैं, किस लिये? क्योंकि वह देवों अर्थात् दिव्य शक्तियों को धारण कराता है।" दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अग्नि[1] व सोम[2] आदि देवता ही वास्तव में ऋषि हैं। ये देवता मनुष्य के अन्दर अंश रूप में अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में रहते हैं। मनुष्य स्तुति, प्रार्थना, उपासना व अन्य साधनों द्वारा उन्हें आविर्भूत करता है। कालान्तर में अत्यन्त प्रवृद्ध अवस्था में पहुंच कर ये अग्नि, इन्द्र, आदि देवता ही ऋषि अर्थात् साक्षात्कर्ता बनते हैं और मनुष्यों को ऋषि बनाते हैं। मनुष्य में अग्नि की स्थिति स्थूल रूप से लेकर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम रूपों में परिवर्तित होती चली गई है। स्थूलरूप में जहां अग्नि अन्न के पाचन करने वाला होता है, वहां उस का सूक्ष्मतम रूप दिव्य संकल्प

----

१. त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिः। ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे। ऋ. ३।२१।३ अग्निर्वैंधस्तम ऋषि.। ऋ. ६।१४।२

२. ऋ. ६।३५।४. १०७।७. ऋ. ८।७६।१

का होता है जो कि संसार की समग्र, गतिविधियों का नियामक होता है। प्राण में वह पवित्रतम सक्रिय जीवनशक्ति है। और बौद्धिक क्षेत्र में सत्य ज्ञान के रूप में, ऋत रूप मे प्रकट होती है। ऋषि लोग इन्हीं क्षेत्रों मे विद्यमान् अग्नि का समिन्धन करते हैं और अत्यन्त उग्र, व बलशाली रूप में उस को पहुंचाते हैं।

प्राण में अग्नि

यह दिव्य संकल्प रूप अग्नि प्राण में प्रविष्ट हो, प्राण का रूपान्तर करती है। सामान्य मनुष्य का प्राण वासनाओं से आच्छादित रहता है। परन्तु इस दिव्य संकल्प रूप अग्नि से प्रेरित हो वह पवित्रतम बनता है, मनुष्य में सतत क्रियाशील व अत्युच्च जीवन-शक्ति को पैदा करता है। वेद मन्त्र कहता है—

अग्निर्ऋषिः पवमानः पांचजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयम् ॥ ऋ. ९।६६।२०।

यह अग्नि-ऋषि पवित्र है और अन्यों को पवित्र करने वाला है। पंचजनों का हितकारी है।

पुरोहित बन सर्वश्रेष्ठ कार्यों मे अग्रणी बनता है। इस महाप्राण (महागयम्) अग्नि की हम स्तुति करते है व याचना करते है।

इसी प्रकार अग्नि के प्राणरूप को प्रदर्शित करने वाले अनेकों मन्त्र वेदों मे विद्यमान हैं। प्राण मे अग्नि की धारणा व उपासना करने वाले व्यक्तियों का जीवन आलस्य व प्रमाद से रहित होकर सक्रिय बन जाता है। उन मे अकर्मण्यता का अंश लेशमात्र भी नहीं रहता। एक प्रकार से वे कर्मयोगी बन जाते है।

मन में अग्नि

मन मे यह अग्नि श्रेष्ठ अभीप्सा के रूप में जागृत होती है। प्राण मे पहुंचकर यह अग्नि जहां सतत सक्रिय अवस्था को पैदा करती है, वहा मन मे पहुंचकर दिव्यता प्राप्ति व भगवत् प्राप्ति की अटूट अभीप्सा को उद्‌बुद्ध कर देती है। ऐसा अग्निमय व्यक्ति सब को सचेत (प्रचेताः) करने वाला साहस का पुत्र (सहसः पुत्रः) बन जाता है। मन्त्र में आता है, हे अग्नि ! तू मन में ओत-प्रोत होने वाले देवों में प्रथम है (त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता

=मनसि श्रोता ऋ. ६।१।१) ।

हे अभीप्सा रूप अग्ने ! हम अभीप्सा वालों (उशतः) को तू देवों से मिला (उशन्नग्न उशतो यक्षि देवान् । ऋ. ६।४।१) ।

इसी प्रकार इस सम्बन्ध में ऋ. ६।६।५-६ मन्त्र भी विशेष रूप से अवलोकनीय है ।

मन की सीमा में संपूर्ण भौतिक संसार समाविष्ट हो सकता है । कोई भी ऐसा पदार्थ व शक्ति नहीं जो कि इस मन की कामना से दूर हो । परन्तु यह दिव्य अग्नि जब मन में उद्बुद्ध व प्रादुर्भूत हो जाती है तब मन से दिव्यता की ही कामना करवाती है और निकृष्ट कोटि की कामना वहां समाप्त हो जाती है ।

बुद्धि में अग्नि

बुद्धि के क्षेत्र में पदार्पण कर यह अग्नि प्रकाशित विचार व दिव्यज्ञान की उद्बोधक होती है । ऐसे व्यक्ति दिव्यज्ञान के उपासक बनते हैं, और संसार में ज्ञानयोगी कहे जाते हैं । यह ज्ञान पुस्तको ज्ञान नहीं है, और नाहीं आधुनिक प्रकार का अधूरा भौतिक ज्ञान है । यह तो बौद्धिक क्षेत्र में अवतरण

करने वाला ऋत नामक दिव्य ज्ञान है, जो कि पर-अपर को समग्र रूप में ग्रहण करने वाला है।

दिव्य अग्नि

हम पूर्व में यह विचार अभिव्यक्त कर चुके हैं कि मनुष्यों को ऋषि बनाने वाले तत्त्वों में अग्नि तत्त्व सर्वप्रथम है। यह अग्नि मनुष्य में उत्पन्न होकर समिद्ध व प्रदीप्त होकर जब दिव्य रूप धारण कर लेती है तब यह दिव्य दृष्टि होकर ऋषि नाम से प्रख्यात होती है। इस के दिव्य दृष्टि होने से मनुष्य भी ऋषि कहलाने लगता है। इसी दृष्टि से सूक्ष्म व दिव्य रूप वाले प्राणों (प्राणा वाव ऋषयः) को ही शास्त्रों में ऋषि कहा गया है। मनुष्य को ऋषि बनने के लिये अग्नि को समिद्ध व प्रदीप्त करने की आवश्यकता है।

देवों का दूत

अग्नि को वेदों में अनेकों स्थलों पर देवों का दूत कहा गया है। अग्नि को देवों का दूत कहने का तात्पर्य यह है कि यह अग्नि मनुष्यों में निहित देवों

के पास से मानस स्तर पर विराजमान मनुष्य के पास पहुंचती है और मनुष्य को यह जताती है कि अमुक २ देवता शरीर में विद्यमान है। उनकी शक्ति, स्वरूप व उनके आविर्भाव आदि का उपाय इत्यादि तत्सम्बन्धी सर्वप्रकार का ज्ञान मनुष्य को अग्नि-द्वारा प्राप्त होता है और इसी प्रकार मानस स्तर पर विद्यमान मनुष्य में क्या शक्ति है, क्या योग्यता है, देवताओं के बैठने के लिये उपयुक्त वेदी तैयार है कि नहीं इत्यादि बातों का ज्ञान भी वह देवों व दिव्यशक्तियों को कराती है। एक प्रकार से यह अग्नि मनुष्य के मानस स्तर व दिव्य स्तर के मध्य में कड़ी व जोड़ने (Link) का काम करती है। दिव्यशक्तियों को मानसस्तर पर उतारकर लाती है और मानस स्तर की वेदि बनाना व उसकी साज-सज्जा भी वह स्वयं करती है। इस प्रकार मनुष्य को ऋषि व देव बनाने में अग्नि सर्वप्रमुख है। अतः ऋषि बनने के लिये सर्वप्रथम अग्नि का समिन्धन होना चाहिये उसे जागृत करना चाहिए।

मन्त्र कहता है कि "अग्निं मनुष्या ऋषयः समीधिरे" ऋ. १०।१५०।४ अर्थात् मनुष्य ऋषि अग्नि को समिद्ध व प्रदीप्त किया करते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस अग्नि को अपने अन्दर किस प्रकार उत्पन्न किया जाये और उसे समिद्ध व प्रदीप्त कर दिव्य बनाया जाये। इस का समाधान वेद मन्त्रों में अनेकों प्रकार से किया गया है। उन सब का विस्तृत स्पष्टीकरण कर सकना तो असम्भव है, पर संक्षेप में कुछ थोड़ा बहुत अग्नि की उत्पत्ति व उस के समिन्धन पर हम यहां विचार करते हैं।

अथर्वा ऋषि द्वारा अग्नि मन्थन

अब हम इसी प्रकरण में विद्यमान दो एक ऋषियों द्वारा किये गये अग्नि मन्थन व अग्नि समिन्धन पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करते हैं।

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।

यजु. ११:३२।

(विश्वभरा) विश्व अर्थात् संपूर्ण संसार का

भरणपोषण करने वाली हे अग्नि ! तू मानव शरीर में (पुरीष्यः असि) प्राण के अन्दर निहित है अथवा प्राण नाम वाले इन्द्रिय केन्द्रों में रहती है। हे अग्नि ! (प्रथमः अथर्वा) पहिला अथर्वा (त्वा निरमन्थत) तेरा मन्थन करता है। प्रश्न पैदा होता है कि यह अथर्वा किस स्थान पर अग्नि का मन्थन करता है? इस का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार दिया है। हे अग्नि ! यह अथर्वा (विश्वस्य वाघतः मूर्ध्नः) संपूर्ण शरीर का वहन करने वाले मूर्धा के (पुष्करात् अधि निरमन्थत) पुष्कर स्थान से मन्थन करता है।

उपर्युक्त मन्त्र में अग्नि को 'विश्वभर' और 'पुरीष्य' नाम से सम्बोधित किया गया है। यह विश्वभर अग्नि जिस प्रकार समग्र, विश्व का भरणपोषण करती है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर का पालन-पोषण करती है। इस का दूसरा विशेषण पुरीष्य,[१] है अर्थात् यह अग्नि पुरीष्य में रहती है। पुरीष्य के भी कई अर्थ हैं। उन में एक प्रमुख अर्थ

---

१ पुरीषे साधु वा पुरीषे भवः

प्राण१ है। इस का भाव यह हुआ कि संपूर्ण शरीर का भरण पोषण करने वाली यह पुरीष्य नामक अग्नि मनुष्य के सर्वशरीरव्यापी प्राण में निवास करती है। परन्तु सर्वशरीरव्यापी इस प्राणाग्नि को मन्थन करके प्रदीप्त करने का मन्त्र में जो स्थान बताया गया है वह मूर्धा का पुष्कर स्थान है। अर्थात् मूर्धा के पुष्कर स्थान से यह अग्नि मन्थन द्वारा पैदा की जाती है। इसी लिये शास्त्रों में २पुष्कर को अग्नि का उत्पत्ति स्थान बताया है। मस्तिष्क में यह पुष्कर स्थान मस्तिष्क-द्रव (Cerebro-spinal fluid) में है। अथवा यूं भी कह सकते हैं कि यह पुष्करपर्ण ३ मस्तिष्क-द्रव का पृष्ठ अर्थात् आधार है। शतपथ ४ ब्राह्मण में पुष्कर को द्रव ही कह दिया है। कहने का तात्पर्य यह है

१ स एष प्राण एव यत् पुरीषम्। श.प. ८।७।३।६

२ योनिर्वा अग्नेः पुष्करपर्णम् तै.सं ५।५।१।४

३ अपा वा एतत् पृष्ठं यत् पुष्करपर्णम्।
तै.स. ८।३।१।४

४ आपो वै पुष्करम्। श.प. ६।४।२।२।

कि पुष्कर मस्तिष्क का द्रव-संयुक्त भाग है। इस में अग्नि रहती है इस मस्तिष्क द्रव को विलोडन कर अग्निरूप मक्खन को बाहिर निकालना है। अग्निरूप मक्खन को मथकर निकालने वाला अथर्वा है। अथर्वा गति रहित व निष्कम्प अवस्था वाले को कहते हैं। यह कितना अद्भुत मन्थन है जिसमें कि किसी प्रकार की गति व हरकत नहीं है। शतपथ ब्राह्मण मे [१]अथर्वा प्राण को बताया है। तैत्तिरीय व मैत्रायणी संहिताओं में [२]प्रजापति माना है। इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि अथर्वा पद से चाहे प्रजापति का अर्थ ग्रहण किया जाय चाहे प्राण का अथवा अन्य किसी का ग्रहण किया जाये देखना यह है कि अथर्वा की व्युत्पत्ति क्या निर्देश करती है? इस की निम्न दो व्युत्पत्तियां हो सकती है :—

१. अथर्वा=न+ थर्वा=निश्चल निष्कम्प
२. अथर्वा=अथ अर्वाङ्‌नमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छ। गो प्र. १।१।४।

---

१ प्राणोथर्वा। श.प. ६।४।२।२

२ प्रजापतिर्वा अथर्वा। मै. ३।१।५

अर्थात् इस प्रच्छन्न अग्नि को मस्तिष्क-द्रव व हृदय सरोवर में ढूंढो और 'अर्वाङ्' स्थूलता में आविर्भाव के लिये प्रेरित करो।

अथवा प्राण जब इन्द्रियों द्वारा बाहिर की ओर विषयों में जाते हैं तब वे बहिर्मुखी होते हैं। परन्तु जब उन्हें मस्तिष्क में विद्यमान ऐन्द्रियिक रसों की ओर (अर्वाङ्) मोड़ देते हैं, तब वे अन्तर्मुखी कहलाते हैं। इस का तात्पर्य यह हुआ कि प्राण जब अन्तर्मुख होकर निश्चल व निष्कम्प हो जाते हैं, तब मस्तिष्क में स्थित पुष्कर स्थान में दिव्य अग्नि का मन्थन प्रारम्भ हो जाता है।

अग्नि में तेजस्विता.. दध्यङ् ऋषि...

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि मनुष्य के प्राण की अथर्वा अर्थात् निश्चल नीरवता की अवस्था में मस्तिष्क की अग्नि का मन्थन होता है, और मन्थन द्वारा वह पैदा की जाती है। इस से आगामी अवस्था अग्नि के ध्यान-प्रवणता की आती है। प्राण-अग्नि की वह ध्यानपरायणता जिस अवस्था में होती है, उसे वेद में दध्यङ् कहा गया है।

प्राण की यह दध्यङ् अवस्था अथर्वा के बाद की अवस्था है और अथर्वा से ही पैदा होती है। इस लिये वेदों की अपनी शैली में इसे अथर्वा का पुत्र कह दिया गया है। वह मन्त्र इस प्रकार है :—

तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः ।
वृत्रहणं पुरन्दरम् । यजु. ११।३३ ।

(अथर्वणः) अथर्वा अर्थात् निष्कम्प व निश्चल नीरवता का (पुत्रः) पुत्र (दध्यङ् ऋषिः) अतिशय ध्यानावस्था का तेजस्वी ऋषि प्राण (वृत्रहणं) वृत्रादि आसुरी शक्ति के विनाशक तथा (पुरन्दरं) आसुरी स्थानों के विदारक (तमु त्वा) उस तुझ अग्नि को (ईधे) प्रदीप्त करता है।

१अथर्वा अर्थात् मनुष्य का प्राण अन्तर्मुखी अवस्था में जब अत्यन्त निश्चल नीरव व शान्त हो जाता है तब मनुष्यों का ध्यान (दध्यङ्) उत्कृष्ट होता है। दध्यङ् ध्यान में लवलीन मनुष्य

---

१ प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। नि दै. १२।३३।२१

को कहते हैं । यजुर्वेद की शाखा संहिताओं में दध्यङ् को तेजस्वी कहा गया है (दध्यङ् वा अथर्वा तेजस्व्यासीत् । तै. सं. ५।१।४।४ कपि ३०।२)

इस प्रकार मन्त्र में अग्नि के प्रदीप्त करने का उपाय यह बताया कि सर्वप्रथम निश्चल नीरवता, समता व स्थिरता की स्थिति पैदा करो और फिर मस्तिष्क में ध्यानावस्थित हो जाओ तो एकाग्रता में वह दिव्य अग्नि पैदा हो जायगी जो कि ऋषि नाम के प्राण को उद्बोधन करने वाली होगी। दध्यङ् के सम्बन्ध में हमने अपनी 'ऋषि-रहस्य' पुस्तक में विस्तार से विचार किया है। प्राण की इस दध्यङ् अवस्था से अगली अवस्था 'पाथ्यो वृषा' की आती है। वह मन्त्र इस प्रकार है :—

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् ।
धनंजयं रणे रणे । यजु. ११।३४ ।

हे अभीद्ध अग्नि ! (दस्युहन्तमं) पापादि दस्युओं का नाश करने वाले तथा (रणे रणे) प्रत्येक

संग्राम में (धनंजयं) दिव्य ऐश्वर्य रूपी धन को जिताने वाले (तम् उ त्वा) उस तुझ अग्नि को (पाथ्यो वृषा) अध्यात्म मार्ग में पाथेय सदृश अन्न की वृष्टि करने वाला यह मन (समीधे) सम्यक् रूप से प्रदीप्त करता है।

अध्यात्म मार्ग में चलते हुये मनुष्य को दो बातों की आवश्यकता है। एक तो मार्ग में बाधा बनकर आये हुये वृत्रादि आसुरी शक्तियों का विनाश हो और दूसरा अव्याहत गति के लिये तदनुकूल बल व अन्न प्राप्त हो। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति 'पाथ्यो वृषा' शब्दों में निर्दिष्ट हुई है। 'पाथ्यः' की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार हो सकती है। (पाथस्सु साधु पथिषु भवः, पाथः पाति शरीर-मात्मानं येन तदन्नं बलं वा)।

यह हमारा मन ही अभीष्ट मार्ग पर ले चलता है और मार्ग में आये शत्रुओं को विनष्ट करने के लिये बलशाली प्राण का प्रयोग करता है। शतपथ ब्राह्मण में 'पाथ्यो वृषा' मन को बताया गया है। (श.प. ६।४।२।४)।

इस प्रकार मनुष्य को ऋषि बनाने में अग्नि का कितना स्थान है, यह हमने देखा। इसी प्रकार अग्नि के समिन्धन के और भी उपाय हो सकते हैं।

सब का सार यही है जैसा कि निम्न मन्त्र कहता है :--

अग्निं मनुष्या ऋषयः समीधिरे।

ऋ. १०।१५०।४।

अर्थात् मनुष्य ऋषि अग्नि को समिद्ध व प्रदीप्त किया करते हैं।

वाणी द्वारा अग्नि-प्राप्ति

ऋ. १०।९८।९ मन्त्र में कहा गया है कि 'हे [1]अग्निः पुराकाल में ऋषि लोग वाणी द्वारा तुझे प्राप्त करते रहे हैं।' इसका भाव यह है कि वाणी द्वारा स्तुति कर आन्तरिक अग्नि को उद्बुद्ध व प्रदीप्त किया जा सकता है। उस की प्रक्रिया यह है कि आध्यात्मिक यात्रा (अध्वरेषु) अध्व मार्ग में अनेक वार अग्नि का आह्वान (पुरुहूत) किया

१ त्वा पूर्वऋषयो गीभिरायन् त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे। ऋ. १०।९८।९

जाये। इस से हृदयाकाश में वह अग्नि शनैः शनैः रोहण (रोहिदश्व) करती जायेगी। इसी प्रक्रिया को बताने के लिये उपर्युक्त मन्त्र में अग्नि को पुरुहूत (बहुत आह्वान करना) और रोहिदश्व (रोहित+अश्व–जिस के अश्व अर्थात् व्याप्ति-शील शक्तियां ऊपर को रोहण कर रही हैं) आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार एक और मन्त्र है, जिस में कहा गया है कि "ऋषि[1]-लोग इस अग्नि को उक्थ नामक स्तोत्रों द्वारा विविध प्रकार से आह्वान करते हैं।" उक्थ उत्थान करने वाले स्तोत्र व साधन कहलाते हैं। हृदय में प्रसुप्त अग्नि को वे इन उक्थ नामक स्तोत्रों व साधनों द्वारा उठाते हैं और प्रदीप्त करते हैं।

ऋषि को अग्नि की देन—

"[2]अग्नि वीरता युक्त ऐश्वर्य प्रदान करता है।

---

१ अग्निमुक्थैर्ऋषयो विह्वयन्ते। ऋ. १०।८०।५

२ अग्निर्दाद् द्रविण वीरपेशा अग्नि ऋषिं यः सहस्रा सनोति, अग्निर्दिवि हव्यमाततानाग्ने र्धामानि बिभृता पुरुत्रा। ऋ. १०।८०।४

अग्नि उस ऋषि को जन्म देता है जो कि सहस्र-शक्तियों से युक्त होता है। यह अग्नि आकाश में हवि को तानता है, फैलाता है। इस अग्नि के धाम बहुत स्थानों पर विविध रूप में विद्यमान हैं।"

यज्ञ में प्रक्षिप्त आहुति को सूक्ष्म रूप कर आकाश में तानने वाला भौतिक स्थूल अग्नि, ऋषि में अतीन्द्रियदर्शन आदि सहस्रों दिव्यशक्तियों का उत्पन्न करने वाला अग्नि, और नानाविध ऐश्वर्यों का प्रदान करने वाला अग्नि एक ही है। स्थूल सूक्ष्म आदि विविध आयतनों से वह विविध रूप वाला कहा जाता है। (धामानि बिभृता पुरुत्रा) इस लिये इस भौतिक स्थूल अग्नि को भी तुच्छ समझकर इस का अपमान नहीं करना चाहिये। मन्त्र कहता है कि ऋषि में जो सहस्रों दिव्यशक्तियां व विभूतियां पैदा होती हैं वह इसी अग्नि के कारण है। इस मन्त्र पर हमें खूब गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। हमें मन्त्र से यह इंगित होता है कि मन्त्र का किसी और ही अग्नि की ओर संकेत है जो कि स्थूल सूक्ष्म आयतनों में प्रविष्ट है। परन्तु उसका वर्णन स्थूल, सूक्ष्म आदि अग्नि के आयतनों व उनमें प्रविष्ट अग्नि को एक ही मानकर अभेद

बुद्धि से कर दिया गया है ।

सब अग्नियां एक ही हैं --

सर्वत्र व्याप्त अग्निरूप भगवान् और उस का आयतन व प्रतीक स्थूल, सूक्ष्म आदि भौतिक अग्नियां इन सब को निम्न मन्त्र में अभिन्न-रूप में वर्णन किया गया है ।

"हे [१]अग्नि ! नियमानुकूल व सम्यक् परिमाण (समाः) में रहती हुई ऋतुएं तुझे बढ़ावें, संवत्सर तुझे बढ़ावे, ऋषि लोग और जितने भी सत्यकर्म है, वे तेरी वृद्धि करें । तू दिव्यरोचन से सम्यक् प्रकाशित हो और चारों दिशाओं व प्रदिशाओं को अपने दिव्य प्रकाश से आभासित कर दे ।

इस मन्त्र में अग्नि के 'दिव्य-रोचन' और उस को प्रदीप्त करने वाले 'ऋतवः, सम्वत्सर, ऋषयः और यानि सत्या 'इत्यादि साधनों पर

---

१ समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु सम्वत्सरा ऋषयो यानि सत्या । संदिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आभाहि प्रदिशश्चतस्र. । अथर्व. २।६।१

गम्भीर विचार किया जाये तो हमें यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि ये साधन दो प्रकार के हैं, जो कि विभिन्न २ अग्नियों को प्रदीप्त करने वाले हैं। ऋतु और सम्वत्सर ये दो साधन भौतिक अग्नि की ओर संकेत कर रहे हैं। और 'ऋषयः' तथा 'यानि सत्या' अर्थात् ऋषि और जितने सत्य कर्म हैं, ये आन्तरिक अग्नि की ओर संकेत करते हैं। इस लिये इन दो प्रकार के साधनों से यही प्रतीत होता है कि ये दो विभिन्न प्रकार की अग्नियां हैं। परन्तु मन्त्र में ऐसा विभाग नहीं किया। वहां एक ही अग्नि माना है। इस को हम यूं समझ सकते हैं कि जो अग्नि फल, फूल व अन्नादि को परिपक्व करती है, वही हमारे शरीर में अन्न द्वारा पहुंच कर इन्द्रियां, प्राण, मन, बुद्धि आदि शारीरिक व आन्तरिक घटकों का निर्माण पालन व पोषण करती है। व्यापक दृष्टि मे सोचा जाये तो अधिभूत व अध्यात्म आदि भेद तो ऋषियों ने मनुष्यों को समझाने के लिए किये हैं। वस्तुतः भेद कुछ नहीं है, केवल स्थान व आयतनों के भेद से उन में भेद है। आत्म-

विदों की दृष्टि में तो भगवान् की ही शक्ति इन विभिन्न २ स्थानों व आयतनों में प्रकट हो रही है। 'जो अग्नि१ ब्रह्माण्ड में सर्वत्र अभिव्याप्त है, उसी के प्रचेता स्वरूप से सम्पर्क कर ऋषि लोग अपने ब्रह्मबल व आध्यात्मिक बल को प्रदीप्त करते हैं जिस से कि उन के अन्दर विद्यमान वृत्रादि की आसुरीमाया छिन्न-भिन्न हो जाती है' वही अग्नि स्थूल रूप में "२हव्य का वहन करती है और यज्ञ को समर्थ बनाती है।" वास्तव में अग्नि सूक्ष्म है, सूत्र रूप है, सर्वत्र व्याप्त है। आयतनों के भेद से उस में भेद माना जाता है। इस लिये मन्त्रों में कई स्थलों पर आयतनों के भेद व क्षेत्र भेद से कई अग्नियों का वर्णन हुआ है, तो कई स्थलों पर कई क्षेत्रों की अग्नियों को

---

१ येन ऋषयो वलमद्योतयन् युजा येनासुराणाम-युवन्त मायाः ।

२ यथा हव्य वहसि जातवेदो यथा यज्ञ कल्पयसि प्रजानन् । अथर्व ४।२३।५ ।

एक ही अग्नि मानकर वर्णन हुआ है। परन्तु इन दोनों प्रकार के वर्णनों मे हमें पारस्परिक विरोध नहीं समझना चाहिये।

स्थूल अग्नि में एक और अग्नि प्रविष्ट है—

अथर्व ४।३६।६ में निर्देश आता है कि इस भौतिक अग्नि मे एक और अग्नि प्रविष्ट है। उस का क्या स्वरूप है, और क्या कार्य है इत्यादि बातों को समझने के लिये हम मन्त्र का सम्पूर्ण भाव यहां दर्शाते हैं।

"[1]इस भौतिक अग्नि में एक और अग्नि प्रविष्ट है। वह ऋषियों का पुत्र है। अपने प्रशंसक व स्तोता का वह रक्षक है। हे अग्नि! (नमस्कारेण नमसा) नमः के उच्चारण के सहित कुछ नम्र होकर मैं तेरे प्रति आहुति डालता हूं। जिस से कि

१ अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणा पुत्रो अभिशस्तिपाउ। नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्मभागम्। अथर्व ४।३६।६

देवों के कर्मभाग अर्थात् उन के प्रति अपने कर्त्तव्य कर्म को मिथ्या न कर सकूं।"

इस मन्त्र में दो बातें विशेष विचारणीय हैं। एक तो इस अग्नि में प्रविष्ट दूसरी अग्नि क्या है? दूसरे क्या इस स्थूल अग्नि के प्रति 'नमः' का उच्चारण करते हुये कुछ नमन करना चाहिये? ये दो बातें बहुत विवादास्पद हैं। प्रथम समस्या का हल हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इस भौतिक अग्नि में वह अग्नि रूप भगवान् प्रविष्ट है। यह अग्नि उस अरूपी भगवान् का रूप है। अमूर्त की मूर्ति है। इस मूर्त अग्नि के प्रति नम्रीभाव से नमस्कार करना व उस की प्रदक्षिणा करना इस स्थूल अग्नि रूप शरीर के प्रति नहीं है। अपितु उस अमूर्त भगवान् के प्रति है। जिस प्रकार किसी पिता माता व गुरु आदि बुजुर्गों के प्रति नमन किया जाता है, वह उन के शरीर के लिये नहीं होता, अपितु शरीरान्तर्गत उन के आत्मतत्व के प्रति होता है। उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। यही भाव निम्न मन्त्र-

पदों में अभिव्यक्त हुआ है। "उत्तानहस्तो नमसा विवासेत ऋ. ६।१६।४६ 'उत्तानहस्ता नमसोपसद्य' ऋ. ३।१४।५ अर्थात् दोनों हाथों को ऊंचा तान कर अग्नि को नमस्कार करना चाहिये। दोनों हाथों को जोड़कर नमस्कार करना किसी मूर्तपदार्थ के सामने ही हो सकता है। अग्नि के प्रति नम्रीभाव का रहस्य कुछ २ इस प्रकार समझ में आता है कि जैसे नृत्य में आन्तरिक किसी विशिष्ट भाव को शारीरिक अंगों द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इस से वह भाव भी घनीभूत होकर पूर्णता को प्राप्त होता है। और अन्तः-शरीर व बाह्य-शरीर ये दोनों एक ही भाव में ओत-प्रोत व समस्वर हो जाते हैं। उसी प्रकार अमूर्त भगवान् के प्रति भक्ति के पूर्णभाव को लाने के लिये उस की शक्तियों के प्रति यह नम्रीभाव है। इस से भक्ति अभिव्यचारी हो जाती है। हमारा यह नमस्कार तन्मयता व लवलीनता को उत्पन्न करे, क्योंकि देवों व भगवान् के भजन करने का तभी लाभ है, जब कि तन्मयता की अवस्था हो।

मन्त्र कहता है "यक्षि देवान् यजिष्ठेन मनसा" अर्थात् देवों का यजन युक्ततम मन से करो। इस स्थूलाग्नि के अन्दर विद्यमान गुह्य अग्नि को ऋषियों का पुत्र कहा है। क्योंकि ऋषि लोग अपने तपोबल से उसे पैदा करते हैं। यह अग्नि सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य के अन्दर भी है। इस आन्तरिक अग्नि को ऋषि लोग प्रदीप्त करते हैं। मन्त्र में आता है :—

१ऋषि लोग इस आन्तरिक अग्नि को प्रदीप्त करते हुये जिस तपोबल से सत्र में पहुंचते हैं, उस अग्नि से उन के मस्तिष्क में प्रकाश भर जाता है (स्वराभरन्तः)। ऋषियों द्वारा प्रदीप्त उस अग्नि को मैं मस्तिष्क रूपी स्वर्गस्थान (नाक) में स्थापित करता हूं। इस अग्नि को मनु अर्थात् दिव्य मन वाले व्यक्ति 'स्तीर्णबर्हि' नाम देते हैं।"

---

१ येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्नि स्वराभरन्तः। तस्मिन्नह निदधे नाके अग्नि यमाहुर्मनवस्तीर्णवर्हिषम्। यजु १५।४६

अर्थात् इस प्रदीप्त व प्रकाशित अग्नि को वहन किये हुये ऋषि सत्य-विज्ञान के उद्गम की स्थली (सत्र) मस्तिष्क में पहुंचते हे। और इस मस्तिष्क रूपी यज्ञस्थली जिसे कि पिण्ड का स्वर्गस्थान (नाक) कहा जाता है – मे इस प्रदीप्त अग्नि की स्थापना कर देते है। इस अग्नि को दिव्य मन वाले व्यक्ति (मनवः) स्तीर्णबर्हि नाम देते हे। अर्थात् इस अग्नि ने हृदय रूपी आसन को आच्छादित किया हुआ है। क्योंकि यह अग्नि हृदय से ही ऊर्ध्व को ओर आरोहण किया करती है। अब प्रश्न यह है कि इस हृदयस्थ अग्नि को स्वर्ग अर्थात् मस्तिष्क मे किस प्रकार पहुंचाये ? इस का उपाय यजु० १८।५१ मन्त्र में बताया गया है। वहां आता है—

[1]यह अग्नि सुपर्ण है, अर्थात् उत्तम पंखों वाला है, दिव्य है, और अपने ताने-बाने (वयसा-वेञ्

---

१ अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम्। तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणा अधिनाकमुत्तमम्। यजु १८।५१

तन्तु-सन्ताने) के कारण महान् है। ऐसी इस सुपर्ण अग्नि को घृत के बल से युक्त करता हूं (घृतं-वीर्यम्-वीर्य शाली पुरुष मे ही अग्नि धधकती है निर्वीर्य मे नहीं)। इस प्रकार स्वर अर्थात् स्वर्ग की ओर आरोहण करते हुए पिण्ड व ब्रह्माण्ड का जो मूलस्थान (ब्रह्म) है, जिसे कि विष्टप कहते है, उस में हम जा पहुंचे।"

अब प्रश्न यह है कि इस सुपर्ण नामक अग्नि के पंख कौन से है, जिन से यह अग्नि उड़ान भरती है। इस सब पर शतपथ-ब्राह्मण व यजुर्वेद की शाखा-संहिताओं में विचार किया गया है। १शतपथ-ब्राह्मण में यजु. १८।५१ मन्त्र (अग्निं युनज्मि०) को ही अग्नि रूप सुपर्ण का आत्मा मान लिया है। और इस से अगले दो मन्त्र (१८।५२,५३) अग्नि-रूप सुपर्ण के दो पंख मान लिये है। इस सब का स्पष्टीकरण सायणभाष्य में किया गया है। वास्तव

---

१ तद्यन्मध्यमं यजुः। स आत्माऽथ ये अभितस्तौ पक्षौ। श.प.९।४।४।६

में मन्त्रगत वर्णनीय विषय ही पक्षी की आत्मा व पंख आदि के अलंकार की असली सामग्री है। मन्त्रों को जो पक्षी व पंखों की उपमा दी गई है वह मन्त्र और मन्त्रगत विषय में अभेद-बुद्धि मानकर ही है। यदि सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाये तो मन्त्रों का संकेत शरीरान्तर्गत अग्नि से है, जिस के हृदय और मस्तिष्क ये दो पंख हैं। ये दोनों ही (हृदय और मस्तिष्क) इसी अध्याय के पूर्ववर्ती मन्त्रों में ब्रह्म और क्षत्र नाम से कहे गये हैं। (स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु)। ब्रह्म और क्षत्र हृदय और मस्तिष्क की शक्तियां हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि अग्निमय पुरुष अपने हृदय और मस्तिष्क रूपी दोनों पंखों के ब्रह्मबल व क्षत्रबल से प्रेरित हो ऊर्ध्व की ओर उड़ान भरता है। अब हम पंख रूपी मन्त्रों का संक्षिप्त भाव यहां दिखाते हैं।

[1]हे अग्नि, ये तेरे फड़फड़ाने वाले दोनों पंख, जिन से तू पाप व आसुरी भावों (रक्षांसि)

१ इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने। ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः। यजु० १८।५२

का हनन करती है। इन पंखों द्वारा हम पुण्यशालियों के लोक में जा पहुंचे, जहां कि हमारे पूर्वज आदि-युगीन ऋषि पहुंचे हुए हैं।"

२"हे अग्नि! तू सोम-रस से युक्त है। दक्ष है और ऋतसम्पन्न है। अमृतमय पंखों वाली, शक्तिशाली व भरणपोषण करने वाली है। तू मस्तिष्क रूपी महान् सधस्थ में ध्रुव रूप में विराजमान है। तुझे नमस्कार है, तू हमारी हिंसा मत कर।

अग्नि के निम्न तीन रूप भी बताये गये है पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक इन तीन स्थानों की दृष्टि से ये तीन रूप हैं। तालिका में वे इस प्रकार रक्खे जा सकते है।

१ पार्थिव–पवमान– स यदग्नये पवमानाय निर्व-
(शरीर प्रधान) पति यदेवास्यास्यां पृथिव्यां
रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोति ।
श. २।२।१।१५

---

२ इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः । महान्तुसधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः । यजु० १८।५३

यवस्य पवमानं रूपमासीत्
तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्त ।
श. २।२।१।१४

२ आन्तरिक्ष्य-पावक-अथ यदग्नये पावकाय निर्व-
(क्रिया प्रधान) पति यदेवास्यान्तरिक्षे रूपं
तदेवास्यैतेनाप्नोति ।

श. २।२।१।१५

यत् पावकं तदन्तरिक्षे न्यधत्त
श. २।२।१।१४

३ दिव्य – शुचि– अथ यदग्नये शुचये निर्व-
(ज्ञानप्रधान) पति यदेवास्य दिवि रूपं
तदेवास्यैतेनाप्नोति ।

श. २।२।१।१५

अथ यत् शुचिस्तद्दिवि
(न्यधत्त) श. २।२।१।१४

अध्यात्म क्षेत्र में स्थूल शरीर से सम्बद्ध प्राणाग्नि तथा उदराग्नि पवमान अग्नि कही जा सकती है । सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी व हृत्प्रतिष्ठ प्राणाग्नि पावक अग्नि हो सकती है । और मस्ति-

एकान्तर्गत विज्ञानाग्नि शुचि अग्नि होती है। इन तीनों प्रकार की अग्नियों को प्रबुद्ध करके तथा सक्रिय बनाकर मनुष्य ऋषित्व को प्राप्त कर सकता है। (अग्निऋर्षिः पवमानः)।

अग्नि चयन

वेद में आता है कि "अग्निं मनुष्या ऋषयः समीधिरे" अर्थात् मनुष्य ऋषि अग्नि को प्रदीप्त किया करते हैं। किन साधनों व उपायों से अग्नि प्रदीप्त होती है, इसका सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन ब्राह्मणग्रन्थों के अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, अग्निचयन आदि यज्ञ यागों में किया गया है। अग्निद्वारा ऋषित्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है इसके ज्ञान के लिए इन यज्ञ यागों पर भी विचार किया जाये तो यह विषय स्पष्ट हो सकता है। प
इन यज्ञों के सब अंगों, सब विधिविधानों को पूर्णरूप से हृदयंगम कर सकना अति कठिन है। बाह्य-कर्मकाण्ड की सब क्रियाओं को युक्ति की कसौटी पर बुद्धिगम्य कर सकना अशक्य है। परन्तु यह निश्चित है कि ये सब बाह्य-यज्ञ आन्तरिक यज्ञोंके प्रतिनिधि हैं, सहायक हैं। प्रमुखता आध्यात्मिक यज्ञों की है। ये बाह्य यज्ञ हमारे आन्तरिक यज्ञों की पूर्णता व निष्पन्नता में सहायक हैं। यह विषय बहुत व्यापक है। अतः इस पर विशेष विचार न कर हम यह

देखने का प्रयत्न करते हैं कि मनुष्य आन्तरिक अग्नि को प्रदीप्त करने तथा तद्द्वारा ऋषित्व की प्राप्ति के लिए याज्ञिक दृष्टि से क्या उपाय कर सकता है ? उदाहरण के लिए अग्निचयन का आध्यात्मिक भाव क्या हो सकता है यह कुछ प्रमाणों व संकेतों के आधार पर दर्शाने का प्रयत्न करते हैं।

यजुर्वेद के ११वें अध्याय से १८वें अध्याय तक अग्निचयन सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा अग्निचिति का वर्णन किया गया है। अग्निचयन का अर्थ है अग्नि का चिनना१ अमुक२ स्थान पर अग्नि का रखना। अग्नि की उत्पत्ति भी इस अग्निचयन में समाविष्ट है। विस्रंसित२ व पृथक्-पृथक् अंगोंका परस्पर सन्धान करना, उन्हें एकसूत्रता में बांधना भी इसका कार्य है। यह अग्नि का चयन ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों क्षेत्रों में होता है। अग्निचयन सम्बन्धी

---

१. यच्चिनोति तस्मात् चितयः। श.प. ६।१।२।१७–१६ अथ यश्चितेऽग्निः०। श.प. ६।१।२।२०।

२ श.प. ६।१।२।१२–२६।

ये मन्त्र मानव में दिव्य उत्पत्ति,द्वितीय जन्म (द्विजत्व) व आध्यात्मिक शक्तियों की ओर भी संकेत करते हैं। श.प.६।१।२।३५ में आता है कि 'किस कामना से मनुष्य अग्नि का चयन करता है? इस सम्बन्ध में एक मत तो यह है कि "सुपर्णो मा भूत्वा दिवं वहादित्यु हैक आहुः" अर्थात् यह अग्नि सुपर्ण बनकर मुझे द्युलोक में वहन करके ले जाये। परन्तु याज्ञवल्क्य का पक्ष दूसरा है। उसका कथन यह है कि अग्निचयन१ से प्राण प्रजापति का रूप धारण करते हैं। तदनन्तर प्रजापति देवों, दिव्यशक्तियों व इन्द्रियों में देवत्व का सर्जन करता है और अग्नि के प्रभाव में विद्यमान दिव्यशक्तियां अमर हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्निचयन से मनुष्य अमर हो जाता है। यही उसका दिव्य जन्म है। द्वितीय जन्म व द्विजत्व भी यही है। यहां यह बात ध्यान देने की है कि जैसी अग्नि होगी और जितनी मात्रामें२ होगी उतना ही

१ न तथा विद्यात्०–श.प.६।१।२।३५।

२ यावानग्नि र्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतच्चिनोति। श.प.६।१।२।२८।
बहवो ह्येतेऽग्नयो यदेताश्चितयोऽथ यत् कामायेति० श.प.६।१।२।१९।

उस अग्नि का तथा तत्सम्बन्धी दिव्यशक्तियों का चयन होगा। अध्यात्म में भी क्षेत्र भेद से अनेकों प्रकार की अग्नियां हो सकती हैं। वाक् अग्नि, चक्षु अग्नि, मस्तिष्क सम्बन्धी, मन व हृदय सम्बन्धी अग्नि। इस प्रकार अनेकों अग्नियां हमारे शरीर में हैं। इन सब पर विचार न करके यहां इस लघु लेख में सामान्य रूप से अग्निचयन व सावित्र होम द्वारा आध्यात्मिक व दिव्य उत्पत्ति का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं। यजुर्वेद के इन अग्निचयन सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड से प्रारम्भ होती है और प्रारम्भ में सृष्टि के आद्य१ ऋषिप्राणों की ओर ही संकेत किया गया है। अतः सृष्टि के आद्य-ऋषियों तथा मानव में उनके प्रादुर्भाव की प्रक्रिया व स्वरूप-निर्धारण के लिए शतपथ ब्राह्मण के इस षष्ठ काण्ड का स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इसका ब्रह्माण्ड व पिण्ड इन दोनों क्षेत्रों में ब्यौरेवार पूर्णरूप से स्पष्टीकरण तो कठिन है पर अध्यात्म क्षेत्र में कुछ संक्षिप्त विचार करते हैं।

---

१ असद्वा इदमग्र आसीत्० श.प. ६।१।१।१।

शतपथ ब्राह्मण का यह षष्ठ काण्ड 'उखा सम्भरण' नाम से प्रसिद्ध है। इस काण्ड मे वर्णित विषय तैत्तिरीय संहिता में 'उख्याग्निकथनम्' नाम से आता है। मैत्रायणी आदि संहिताओं में 'अग्नि-चिति ब्राह्मणम्' नाम से वर्णित हुआ है। इन सबका तात्पर्य यही है कि ब्रह्माण्ड व पिण्ड में 'उखा' नाम से प्रसिद्ध स्थानों मे अग्नि का चयन तथा तत्सम्बन्धी सृष्टि की उत्पत्ति करनी है।

अग्निचयन को यहां नीचे से लेकर ऊर्ध्व तक पांच चितियों मे विभक्त किया गया है। इसमें पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज इन पांच पशुओं का भी आलम्भन होता है। ये पांच पशु पारिभाषिक व आलंकारिक रूप के है। हमारे विचार मे ये पशु मनुष्य के आभ्यन्तर अंगों से सम्बद्ध है। इस चयन-यज्ञ का प्रारम्भ मुख से होता है। (मुखतो वा एतद् यज्ञमालब्ध० मै.सं. ३।१।१)। क्योंकि सर्वप्रथम अग्नि का चयन मुख से होता है। मुखाग्नि द्वारा अन्न-भक्षण से स्थूल शारीरिक अग्नि तथा ब्रह्मचर्य काल में शिक्षा आदि द्वारा सूक्ष्म-अग्नि प्रबुद्ध व प्रादुर्भूत की जाती है। इस प्रकार स्थूल व

सूक्ष्म दोनों प्रकार की अग्नियों का चयन मुख से होता है। मुख ही प्रधान कारण होता है क्योंकि ब्रह्मचर्य काल में विद्याध्ययन करते हुए मुखद्वारा त्रयी विद्या का अध्ययन किया जाता है। इसलिए ब्रह्म की उत्पत्ति को दूसरे शब्दों में मुख की उत्पत्ति कहा गया है। ऐसा व्यक्ति अनूचान अर्थात् अग्नि के सदृश देदीप्यमान होता है। शास्त्र में इसे अग्नि-कल्प कहा गया है। यह ब्रह्म ही अग्नि का मुख है अथवा यह अग्नि ब्रह्म का मुख है। इसी दृष्टि से ऋग्वेद आदि शब्द ब्रह्म, का प्रारम्भ अग्नि देवता से होता है। (मुखं ह्येतदग्ने र्यद् ब्रह्म)। आगे सब दिव्यशक्तियों की उत्पत्ति का सिलसिला सर्वप्रथम अग्नि की उत्पत्ति[१] से चालू होता है।

अग्निचयन में सर्वप्रथम ऋषियों[२] को स्मरण किया गया है। ये ऋषि सृष्टि के विभिन्न स्तरों के

---

१ स(अग्निः)यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्नि-रग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते।श.प.६।१।१।११

२ असद्वा इदमग्र आसीत्० श.प.६।१।१।१।

आद्य प्राण है। किस चिति में कौन सा ऋषि है वह तालिका में निम्न प्रकार है :—

	चिति		ऋषि
१	प्रथमा	—	प्रजापति
२	द्वितीया	—	देव
३	तृतीया	—	इन्द्राग्नी,विश्वकर्मा
४	चतुर्थी	—	ऋषयः
५	पंचमी	—	परमेष्ठी

इस प्रकार उपर्युक्त चितियों के ये प्रजापति आदि ऋषि है। ये विभिन्न स्तरों के प्राण हैं। इनका पिण्ड की दृष्टि से संक्षिप्त भाव यह है कि प्रथम चिति के समय मानव की गर्भावस्था व शैशव काल मे प्रजापति प्राण सक्रिय होते हैं। द्वितीय जन्म व आध्यात्मिक उत्पत्ति मे भी प्रजापति का दिव्य रूप सक्रिय होता है। उसी प्रकार द्वितीय चिति में देव अर्थात् इन्द्रिय शक्तियां उद्‌बद्ध होती हैं। आध्यात्मिक उत्पत्ति में उनका दिव्य रूप प्रकट होता है। तृतीय चिति में इन्द्र और अग्नि तथा विश्वकर्मा रूप होता है। चतुर्थ चिति में स्वयं ऋषित्व सक्रिय व उद्‌बुद्ध होता है

है और अन्त मे पंचमी चिति में परमेष्ठी जागृत हो जाता है। इन सब ऋषि प्राणों को प्रदीप्त करने वाला मध्य का केन्द्रीय प्राण १ इन्द्र नाम से कहा गया है।

इन चितियों का ब्रह्माण्ड व पिण्ड मे क्या महत्त्व है, किन २ अग्नियों का चयन होता है, इत्यादि बातें गुह्य रूप की हैं। परन्तु प्रजापतित्व व देवत्व आदि के ज्ञान व उनकी प्राप्ति के लिए इन चितियों के स्वरूप व उनकी सूक्ष्मता को जानना भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि पिण्ड मे प्राणों की दृष्टि से पुरुष शरीर के सात विभाग किये गये हैं। यथा नाभि से नीचे के दो, नाभि से ऊपर के दो, पार्श्व (पक्ष) दो तथा प्रतिष्ठा स्थान एक। शिष्य के द्वितीय जन्म तथा उसमें देवत्व की उत्पत्ति के लिए आचार्य इन

---

१ स योऽयं मध्ये प्राण.। एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्। श.प. ६।१।१।२।

सातों अंगों की श्री[1] (रस) को ऊर्ध्व मे सिर को ओर प्रेरित करता है। सिर को शिर इसलिए कहते है कि इसमे सब देवशक्तियां व इन्द्रियां आश्रय लिए हुए हैं। समग्र शरीर की श्री ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ऊर्ध्व में सिर की ओर गति करती है। हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि शरीर के सब यज्ञ व समग्र देवशक्तियां ब्रह्मचर्य पर ही आश्रित हैं। ब्रह्मचर्य से ही इनका यज्ञ सुचारु रूप से चालू रहता है। परन्तु वीर्य रूपी रस के अधः पतन से यह श्री विनष्ट हो जाती है। सब आन्तरिक यज्ञ विनाशोन्मुख हो जाते है और देवशक्तियां भी प्रसुप्त व प्रच्छन्न पड़ी रहती हैं। जब ब्रह्मचर्य द्वारा मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन जाता है तब सम्पूर्ण शरीर की श्री भी ऊर्ध्वगति वाली हो जाती है। (समुद्रहन्ति) इस अवस्था में विद्याप्राप्ति का रुझान हो जाता है

१ यंवैतेषा सप्तानां पुरुषाणां श्रीर्यो रसस्तमेत-दूर्ध्वं समुद्रहन्ति तदस्यैतच्छिरस्तस्मिन्नेत-स्मिन् सर्वे देवा: श्रिता:। अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्माद्वेवैतच्छिर. । श.प. ६।१।१।७

और ध्यान मे मन लगता है। ध्यानावस्था में कुछ और श्रम व तप करने से त्रयी रूप ब्रह्म की उत्पत्ति होती है। वेदप्रतिभासित होने लगते हैं। इस अवस्था में पहुंचकर मनुष्य का प्रतिष्ठित स्थान ब्रह्म ही बन जाता है।

आगे इस अग्नि को आधार बनाकर पृथ्वी, अन्तरिक्ष द्यु तथा दिशाओं सम्बन्धी सृष्टियों का वर्णन हुआ है। ये सब अग्नि की चितियां हैं। इन चितियों की पूर्णता व निष्पन्नता में सविता का प्रमुख स्थान है। सविता ने इन चितियों को देखा।१ उत्पत्ति के लिए प्रेरित किया। इसलिए सविता द्वारा निष्पन्न कार्यों को सावित्र-होम भी कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य में अग्नि की२ उत्पत्ति व उसका विविध स्थानों में चयन बार बार की आन्तरिक प्रेरणा (सावित्राणि--षु प्रसवैश्वर्ययो - प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम् प्रेरणम्) पर निर्भर करता है।

---

१ तेषां चेतयमानानां सवितैतानि सावित्राण्य-पश्यत्–तस्मात् सावित्राणि, यत्सावित्राणि हूयन्ते प्रसूत्या। श. प. ६।३।१।१। मै. स.,

शास्त्रों मे सविता का धाम ऊर्ध्वतम लोक माना है अर्थात् ऊर्ध्वतम लोक में स्थित हो यह सविता सब देव शक्तियों को प्रेरित करता है। यह हम गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'आत्म-समर्पण' नामक पुस्तक में प्रदर्शित कर चुके हैं। सावित्र कर्म अनेकों प्रकार के दर्शाए गये हैं। इस सावित्र-होम मे अग्नि आदि दिव्यशक्तियो की उत्पत्ति के लिए सविता सम्बन्धी प्रेरणाये आहुति रूप मे पड़ती रहती है। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड में सविता भगवान् की प्रेरणा से तथा पिण्ड में सविता स्थानीय आन्तरिक (मन) प्रेरणा से अग्निप्रधान दिव्य जीवन की उत्पत्ति होती है। दैनिक अग्नि होत्र भी यदि मानव में अग्नि उत्पत्ति का साधन बनता है तो यह भी सावित्र कर्म के अन्तर्गत परिगणित किया जायेगा। उदाहरण के तौर पर मन के सवितृरूप को तथा तत्सम्बन्धी सावित्र-कर्म को हम यहां प्रदर्शित करते हैं।

मन सविता है। क्योंकि मानसिक इच्छा ही कार्य को करने के लिए प्रेरणा देती है। प्रेरणा

देने के पश्चात् यह मन स्वयं रेतस् रूप में ग्राहुति भाव को प्राप्त कर प्राण रूपी चमस द्वारा वाक् रूपी योषा (स्त्री) में जाकर पड़ती है। ब्राह्मण ग्रन्थ के पारिभाषिक शब्दों में वाक् स्रुक् है प्राण स्रुव है। स्रुक् योषा है (स्त्री है) स्रुव पुरुष है मन रेतस् है। आधुनिक भाषा में उपर्युक्त कथन को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते है कि यह मनरूपी सविता स्वयं रेतस् रूप को धारण कर अपने आप को प्राण रूप स्रुवा (चमचा) द्वारा वाक् अग्नि मे सिञ्चित करता रहता है। इससे वाक् अग्नि प्रबुद्ध व प्रवृद्ध होती है। अर्थात् मन प्राण के साथ सम्पर्क कर संकल्प रूप को धारण करता है यदि मन के साथ प्राण का सम्पर्क नहीं है तो यह मन केवल इच्छामात्र रह जाता है। इच्छामात्र से कोई काम सिद्ध नहीं होता, सिद्धि के लिये प्रबल संकल्प चाहिये। प्रबल संकल्प उसी समय जागृत होता है जब मन का प्राण के साथ सम्पर्क होता है। पारिभाषिक शब्दों में मन रेतस् है प्राण इस रेतस् को धारण करने वाला स्रुव (चमस)

है और वाक् रूप योषा में यह मन रूपी रेतस् पड़ता रहता है। इस प्रक्रिया से वाक् अग्नि प्रवृद्ध होती है। अब जिस समय मन प्राण के साथ सम्पर्क कर संकल्प रूप धारण कर लेता है तब यह आहुति हो जाती है। उस समय एक और वस्तु इस आहुति द्रव्य में आ मिलती है, वह ऋत रूप जल है जो कि मस्तिष्क में विद्यमान वाक् लोक१से उत्पन्न होकर इस संकल्प में आ मिलता है। जब 'ऋत जल' आ मिला तब 'त्रयी विद्या'२भी आ धमकती है। तदनन्तर सब देवों का प्रजनन करने वाला प्रजापति भी

---

१ अथ यास्ता आप आयन् वाचो लोकादेतास्ता।
श.प. ६।३।१।९-१०।

२ ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्या सैवास्मा प्रतिष्ठाऽभवत् तस्मादाहु ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। श.प. ६।१।१।८।
सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्० श प ।६।१।१।१०।

आ पहुंचता है। इस प्रकार मनुष्य में ये सब शक्तियां उद्‌बुद्ध हो जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राण सम्पृक्त मन में इतना प्रबल संकल्प होना चाहिये कि कुछ काल पश्चात् मस्तिष्क में ऋत रूप जल (आपः) का उद्‌गम होने लगे, और ऋतम्भरा प्रज्ञा पैदा हो जाये। इस पारदर्शक ऋत रूपी जल में त्रयी विद्या के साथ देवशक्तियों का प्रजनन करने वाला प्रजापति भी उद्‌बुद्ध हो जाये तब ये सब मिलकर एक आहुति बनती है। प्राचीन समय में आचार्य अपने शिष्यों में उपर्युक्त आहुति को डालते थे। यह आहुति वाक् में पड़ती थी और वेदों के विद्वान् बनने के साथ साथ उनमें दिव्यता व आध्यात्मिकता का भी प्रादुर्भाव होता था।

इस प्रकार वाक् का बड़ा महत्व है शास्त्रों में वाक् को ही पृथ्वी माना है१। पृथ्वी में अग्नि समाविष्ट है अतः मुखस्थ वाक्-अग्नि को पार्थिवाग्नि कह सकते है। यह वाक् अग्नि नाभि से नीचे के उदर व उपस्थ आदि अंगों में भी पहुंचती है। परन्तु जब वाक्-अग्नि गायत्री का रूप धारण करती

१ इयं (पृथिवी) वाक्। ऐ.ब्रा.३,।३।१।१०।

है तब उसका वह दिव्य रूप होता है और मुख से उत्पन्न होकर यह गायत्री रूप अग्नि, उदर उपस्थ आदि नीचे के अंगों को अभिव्याप्त कर उन्हें वासना रहित करती है। सामान्य अग्नि और गायत्री अग्नि में एक भेद यह भी है कि गायत्री अग्नि पृथ्वी पर रमण नहीं करती वह ऊर्ध्वगति वाली होती है। इस अवस्था में पुरुष ऊर्ध्वरेतस् बनता है।

यह विषय हम 'विष्णुदेवता' नामक पुस्तक में विस्तार से दर्शा चुके है। इस प्रकार वाक् अग्नि और उपस्थ आदि की अग्नि एक ही है। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य धारण न कर शिश्न आदि के दुरुपयोग द्वारा इस अग्नि को विनष्ट कर देता है उसकी वाक् अग्नि भी विनष्ट हो जाती है। उसकी वाणी में तेज व ओज नहीं रहता। विद्या भी क्षीणता को प्राप्त हो जाती है। इस कारण वाक् अग्नि और उपस्थ अग्नि एक ही है। इन दोनों अग्नियों को धारण करने वाले अंग पृथिवी कहे गये है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर याज्ञिकों ने 'प्राजापत्याहुति' को मौन होकर देने का विधान किया है। क्योंकि प्राजापत्य कर्म में अग्नि मुख में न

रह कर सम्पूर्ण रूप में योनि व शिश्न में उपस्थित रहनी चाहिये। यही रहस्य उपनिषद् में मन और वाक् के पारस्परिक संघर्ष में प्रजापति द्वारा मन का पक्ष लिये जाने पर वाक् का प्राजापत्य आहुति के समय मौनावलम्बन का प्रण लेने में स्पष्ट किया गया है।

यह सावित्र-होम यजुर्वेद के ११वें अध्याय में वर्णित हुआ है। वहां आता है कि सविता सर्वप्रथम यह निश्चय करता है कि किस अग्नि को खोदकर बाहर निकालना है। यह निश्चय करके वह वाणी रूपी कुदाल (अभ्रि) द्वारा पृथ्वी के सधस्थ से अग्नि की खुदाई करता है और ऊर्ध्व में मस्तिष्क की ओर उसे प्रेरित करता है। सविता की प्रेरणा से यह अग्नि की ज्योतिः शिखा रूप में मस्तिष्क में पहुंच तत्रस्थ ऐन्द्रियिक शक्तियों को फैलाती, उद्बुध करती व दिव्य बनाती है। यह गायत्री अग्नि त्रिपदी कहलाती है। शरीर में ये तीन पाद मुख, नाभि तथा मस्तिष्क हो सकते है। पार्थिव क्षेत्र से उद्बुद्ध हो यह अग्नि जिस २ मार्ग का अवलम्बन करती है उस २ मार्ग को सविता देखता रहता है।

अष्टपदा गायत्री नाम से प्रख्यात यह ज्योति कईयों की दृष्टि में अष्टचक्रों में गति करने वाली कुण्डलिनी भी हो सकती है। मुख से उत्पन्न हो यह गायत्री नीचे के अंगों को अभिव्याप्त कर लेती है परन्तु यह नीचे रमण नहीं करती। पृथ्वी स्थानीय नाभि प्रदेश से ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करती है और दीपशिखा की भांति योगी पुरुषों को दृष्टिगोचर होती है।

अग्नि का उत्खनन

वाक् रूपी (अभ्रि) कुदाल द्वारा अग्नि का उत्खनन शरीर के उदर हृदय तथा मस्तिष्क इन तीनों स्थानों पर होता है। यह उत्खनन अमुक स्थान पर ध्यान को केन्द्रित कर संकल्प वाली वाक् का प्रयोग करने से होता है। शरीर व शिर आदि को उखा इसलिये कहा जाता है कि इनमें विद्यमान अग्नि को खोदना होता है। उखा शब्द 'उत्खा'[१] उत्खनन से बना है। अग्नि के उत्खनन के लिए सविता की प्रेरणा आवश्यक है। सविता का स्थान

१ इमाल्लोकानुदखनन्यदुदखनस्तस्मादुत्खोत्खा ह व तमुखेत्याचक्षते। श प ६।७।१।२३।

मस्तिष्क है यहां से शरीर के सब अंगों को प्रेरणा जाती है। यजुर्वेद के ११वें अध्याय के प्रथम ८मन्त्र सविता की प्रेरणा से सम्बन्ध रखते हैं। इनके प्रेरणारूपी कार्यकलाप को शतपथब्राह्मण में सावित्र होम भी कहा गया है। अब हम इन मन्त्रों के आधार पर सावित्र होम का संक्षिप्त रूप प्रदर्शित करते हैं।

१सर्वप्रथम हमें यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये (निचाय्य) कि दिव्य अग्नि की ज्योति पृथिवी से खोदकर ऊर्ध्व में ले जानी है। इसके लिये प्रथम कर्त्तव्य यह है कि मन का धी के साथ योग किया जाये (युंजते मन उत युंजते धियः)। मस्तिष्क का अधिपति सविता यह कार्य करता है। धी प्रज्ञाकेन्द्रों (Brain Centres) को कहते हैं। याज्ञवल्क्य ने इन्हें २प्राण नाम दिया है। वास्तव में

---

१ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः। अग्नेर्ज्योति निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्। यजु. ११।१।

२ प्राणा धियः। श.प. ६।३।१।१३।

प्राण, प्राणायतन, प्रज्ञाकेन्द्र, धी व इन्द्रियां आदि संज्ञायें एक ही तत्त्व के द्योतक है। मन्त्र कहता है कि सर्वप्रथम हमें मन का इन प्रज्ञाकेन्द्रों (धी) के साथ योग करना चाहिये। प्रज्ञाकेन्द्रों से संयुक्त मन को 'युक्तमन' कहा गया है। क्योंकि संसार के सभी कार्य युक्तमन से ही सफल होते हैं। १अयुक्तमन से संसार का कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं हो सकता। और दिव्य अग्नि की उत्पत्ति तो बिना युक्तमन के नितरां असम्भव है। इस लिये अग्नि की उत्पत्ति के लिए सर्वप्रथम मन को प्राणों व प्रज्ञा केन्द्रों से युक्त करे। मन की इस युक्तावस्था को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि २सविता की प्रेरणा निरन्तर होती रहे (सवितुः सवे)। तदनन्तर प्राणसंयुक्त सम्पूर्ण मानसिक शक्ति से द्युलोक की ओर ऊर्ध्वारोहण (स्वर्ग्याय

———

१ न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्। श. प. ६।३।१।१४।

२ युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या। यजु ११।२।

शक्त्या) करने का प्रयत्न करे। हे १ऋषियो! द्युलोक में आरोहण कर जाओ, भयभीत मत होओ।

इस२ ऊर्ध्वारोहण के समय ये देव-दिव्य-इन्द्रियां सविता की प्रेरणा से धी-बुद्धिकेन्द्रों से युक्त होकर मस्तिष्क व मस्तिष्क से भी ऊपर द्युलोक की ओर प्रयाण करते हुए एक महान् व दिव्य ज्योतिः व प्रकाश पुञ्ज को उत्पन्न करने लगते है यह सब सविता देव को प्रेरणा का परिणाम है। आध्यात्मिक क्षेत्र में एक स्थिति ऐसी आती है जब कि मस्तिष्क में विद्यमान सविता की प्रेरणाये स्वतः होती है उनके लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। आगे३ चतुर्थ मन्त्र में आता है कि

---

१ आरोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन।
अथर्व. १८।३।६४।

२ युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योति: करिष्यत सविता प्रसुवाति तान्॥
यजु० ११।३

३ युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुति:।
यजु० ११।४

विप्र लोग उस महान् विप्र भगवान् के अन्दर मन को युक्त करते हैं और फिर धी को युक्त करते हैं। मस्तिष्क में विद्यमान सबके ज्ञान व कर्मों के ज्ञाता (वयुनावित्) सविता का एक कार्य यह भी है कि वह सब अंगो (होत्रा) को एकरूप (एक इत्) में कर देता है अर्थात् इन का वैविध्य समाप्त होकर इनमें एकता व एकतानता आजाती है यह सविता देव का महान् स्तुति के योग्य कार्य है।

आगे ५ वें मन्त्र १ में अगली भूमिका का चित्र इस प्रकार खींचा गया है कि सविता रूप मन और इन्द्रियों की इस एकत्व की स्थिति में दिव्यज्ञान को उत्पन्न करने वाले सोम रूपी अन्नों के साथ इन का योग होता है। सोम भक्षण से इन मन व इन्द्रियों में सब से पूर्व जिस शक्ति का प्रकाश व प्रकटीकरण होता है, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म त्रयीविद्या व शरीर में ऐन्द्रियिक दिव्य ज्ञान है। सोम भक्षण से उत्पन्न

---

१ युजे वा ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ यजु ११।५।

हुआ यह ब्रह्मज्ञान इन मन व इन्द्रियों का प्राण[१] बन जाता है। सोम के लिये मन्त्र में 'नमः' शब्द का प्रयोग हुआ है। क्योंकि सोम की वृद्धि से मनुष्य सौम्य बनता है। उस में नम्रता पैदा होती है। अतः सोम का एक नाम 'नमः' भी है। इस प्रकार मन व इन्द्रियों की एकता मे सोम के सम्पर्क से जो ब्रह्म सम्बन्धी दिव्यज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य लोक में तो उस की कीर्ति फैलती ही है, पर दिव्यलोकों मे विद्यमान अमर देवों मे भी उस की कीर्ति जा पहुंचती है। जिस प्रकार [२]राजा के प्रयाण करने पर राजसभा के सब सभासद भी राजा का अनुगमन करते ह, उसी प्रकार मनुष्य की इन्द्रियां व मन आदि सम्पूर्ण शक्तियां ऊर्ध्वारोहण में सविता का अनुगमन

---

१ प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्यमन्नं नमस्तत्तदेषैवाहुतिरन्नमेतयैव तदाहुत्यैतेनान्नेन प्राणानेतस्मै कर्मणे युक्ते। श.प.६।३।१।१७।

२ यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा। य. पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देव. सविता महित्वना। यजु ११।६

करती है। जितने भी पार्थिव अर्थात् शारीरिक संस्थान है, उन सब का यह सविता अपने ओज से पुनर्निर्माण करता है। अन्त मे सर्वप्रेरक सविता प्रभु से प्रार्थना है कि "हे१ सर्वप्रेरक सविता देव ! तू इस सावित्र-यज्ञ को प्रेरित कर, इसे पूर्ण कर, दिव्य ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये इस यज्ञपति को तू सदा प्रेरित करता रहे। ज्ञान को पवित्र करने वाला यह दिव्य गन्धर्व हमारे ज्ञान को पवित्र करे। और वाणियों का स्वामी हमारी वाणी को दिव्यज्ञान से मधुर बनावे।" "यह२ सावित्र-यज्ञ देवों का रक्षक है। जीवात्मा के सच्चे सखा भगवान् को प्राप्त कराने वाला है आन्तरिक स्थानो को जिताने वाला, ऐश्वर्यों को जिताने वाला तथा स्वर्ग को प्राप्त कराने वाला है।"

---

१ देव सवित. प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपति भगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपू केत न. पुनातु वाच-स्पतिर्वाचं न स्वदतु । यजु ११।७ ।

२ इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखि-विदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तर बृहद् गायत्र-वर्तनि स्वाहा । यजु.११।८ ।

ये उपर्युक्त आठयजुमन्त्र है। इन से सावित्र-होम किया जाता है। सावित्रहोम को दूसरे शब्दों में सविता की प्रेरणायें व सावित्र कर्म कहा गया है। इस सावित्रहोम व सविता की प्रेरणाओं का क्या स्वरूप है यह उपर्युक्त आठ मन्त्रों के आधार पर जाना जा सकता है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि मन व इन्द्रियां आदि शारीरिक शक्तियों को चहुं ओर से समेट कर ऊर्ध्वारोहण करते हुए मस्तिष्क में एकाग्र करना और इतना एकाग्र करना कि इन का वैविध्य समाप्त होकर एक चेतना प्रवाह ही अवशिष्ट रहे यह सावित्र-होम का एक स्वरूप है। इस सावित्रहोम के द्वारा मस्तिष्क की अग्नियों को प्रदीप्त किया जाता है। अग्नि की प्रदीप्ति के लिये आगे मन्त्रों में कुछ साधन बताये गये है, जिन पर केवल हम संक्षिप्त टिप्पणी ही प्रस्तुत करते हैं।

आठ मन्त्रों से एक आहुति —

१इन आठ मन्त्रों स केवल एक ही आहुति देनी

१ य कामयेत ऋध्नुयादिति तस्य सकृत् सर्वाण्यनुद्रुत्य जुहुयात् ऋध्नोति। अथ यं कामयेत पापीयान्स्यादिति तस्य नाना जुहुयात्।

है पृथक २ नहीं। यह ही समृद्धि १व सफलता का सूचक है। इस का भाव यह है कि इन आठ मन्त्रों में जो जो बातें कही गई है उन सबको एक बार में ही करना है। कोई क्रिया कभी कर ली कोई कभी या तोड़ २ कर की तो इस से सफलता नहीं मिल सकती। ऐसा समझना चाहिये कि इस शिरोयज्ञ मे आठ मन्त्रों वाली यह एक ही आहुति है।

सन्तत होम—

दूसरे यह होम अविच्छिन्न धारा रूप मे होना चाहिये। अर्थात् मन व इन्द्रियां आदि की एकाग्रता की अवस्था निरन्तर बनी रहनी चाहिये। मध्य मे अवकाश होने पर अन्य विघातक विचार प्रविष्ट होकर इस के उद्देश्य को विनष्ट कर देंगे।

---

२ अथ यदेकामाहुतिमष्टाभि र्यजुर्भिर्जुहोति तस्मादेकस्मै सते बहवो बलि हरन्ति बहवो ह्यस्य वलिहृतो भवन्ति ॥ मै. सं. ३।१।१।
तस्मादियेका सत्यष्टधा विहिता।
श.प.६।३।१।३।

१देवताओं को भय हुआ कि कहीं हमारे इस यज्ञ के विघातक राक्षस अनुप्रविष्ट न हो जावें। इस लिये उन्होंने इस सावित्रहोम को सततरूप (सन्ततहोम) में किया।

अषाढा—

इस प्रकार इस सावित्रहोम को निरन्तर धारा रूप में करते रहने पर विघातक आसुरी विचार प्रविष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि वे इस 'सन्ततहोम' की तेज धारा को सहन नहीं कर सकते। इसी लिये इसे आषाढा२ भी कहा गया है।

ऊर्ध्व धारा—

मन व इन्द्रियों की एकाग्रता की अवस्था में

---

१ ता सन्तता जुहोति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इह रक्षांसि नाष्ट्रा नान्वयेयुरिति त एतं सन्ततहोममपश्यन् रक्षसां नाष्ट्राणामनन्ववायनाय तस्मात् सन्तता जुहोति। श.प. ६।३।१।५।

२ तामुपाधायासुरान्त्सपत्नान् भ्रातृव्यानस्मात् सर्वस्मात् असहन्त। यदसहन्त तस्मादषाढा श.प.७।४।२।३३।

निरन्तर ऊर्ध्व की ओर प्रवाहित होने वाली यह चेतना की धारा ऊर्ध्वधारा कहलाती है। श.प. ६।३।१।१४ में कहा है कि "तामूर्ध्वामुद्गृहणन्जुहोति। इमां तदूर्ध्वां रूपैरुद्गृह्णाति। तस्मादियमूर्ध्वा रूपैः।

अर्थात् आठ मन्त्रों से दी जाने वाली यह आहुति धारा रूप में ऊर्ध्व की ओर प्रवाहित की जाती है। यह ऊर्ध्वारोहण का संकेत मन्त्रों में 'स्वर्ग्याय शक्त्या' तथा 'स्वर्यतो धिया दिवम्' वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।

आहुति साधन वाक् और प्राण--

१इस शिरोयज्ञ में आहुति के साधन वाक् और

---

१ प्राणो वै स्रुव. प्राण प्रजापतिरथ या सा वागासीत् एषा सा स्रुग् योषा वै वाग् योषा स्रुग् अथ यास्ता आप आयन् वाचोलोकादेतास्ताः यामेतामाहुतिं जुहोति। श.प. ६।३।१।८ अथ यः स प्रजापति स्त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशद्। श.प.६।३।३।१

प्राण है। कर्मकाण्ड की भाषा में ये दोनों स्रुव व स्रुग् कहलाते हैं। प्रजनन की भाषा में इन्हें प्रजापति और योषा नाम दिया गया है। वाक् योषा है और प्राण प्रजापति है। यह वाक् मस्तिष्क के विश्वरूप यश (जल= मस्तिष्क द्रव) में तैरते हुए ब्रह्मरूपी हंस की वाक् है। यह 'वाचो लोक' कहलाता है। प्राण और इस वाक् लोक के सम्पर्क से एक रस पैदा होता है। (आप आयन्वाचो लोकादेतास्ताः) । इसी रस को ये ऐन्द्रियिक शक्तियां यज्ञ में डालती रहती हैं और अपने २ कार्य का निर्वाह करती हैं। इस वाक् और प्राण के सम्पर्क से एक चिनगारी, विद्युत् व अग्नि पैदा होती है, जो कि ऐन्द्रियिक बल्वों (गोलकों) को प्रज्वलित कर देती है। इन्द्रियों के कार्य करने का यह प्राचीन वर्णन है। इसी रस (आपः) में यह प्राण प्रजापति त्रयी-विद्या द्वारा प्रविष्ट होता है, जिससे कि मनुष्य को त्रयी-विद्या में निहित तद् द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। सावित्रहोम सम्बन्धी आठ मन्त्रों से सततरूप में एक आहुति देने पर इन्द्रियों में अग्नि की उत्पत्ति होती है। शतपथ

ब्राह्मण में आता है कि "१अग्नि देवों से उत्क्रमण कर गई। उन देवों ने कहा कि यह अग्नि पशु है। पशु पशुओं के संघ में ही जाता है। अतः इस पशु-अग्नि को पशुरूपी इन्द्रिय-गोलकों में प्राप्त करते हैं। क्योंकि यह पशु अग्नि अपने पशुरूप में प्रकट होती है। वे पशु गौ, अश्व और पुरुष हैं।" हमें यहां पर स्मरण रखना चाहिये कि ये तीन पशु गुह्यभाषा में मनुष्य के आन्तरिक अवयव हैं। अब विचारणीय यह है कि ये गौ, अश्व और पुरुष मनुष्य के आन्तरिक अवयव किस प्रकार हैं? हम और पशुओं पर विचार न करके उदाहरणार्थ अश्व पर विचार करते हैं। अश्व आन्तरिक सूर्य है जिस की सप्तरश्मियां सिर में सप्तप्राणों द्वारा चहुंओर बिखर रही हैं। परन्तु प्रमुख रूप से यह अश्व चक्षु द्वारा बाहिर की ओर को गति करता है। इसलिये चक्षु को हम अश्व मानकर ही यहां विचार करते हैं। इस चक्षु रूपी अश्व की सहायता से चक्षु गोलक में दिव्य अग्नि की

१ अग्निर्देवेभ्यउदक्रामत् ते देवा अब्रुवन् पशुर्वा अग्निः पशुभिरिममन्विच्छाम स स्वाय रूपाया विर्भविष्यतीति। श प.६।३।१।२२।

उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

चक्षु सम्बन्धी दिव्य अग्नि का खनन

जिस प्रकार अग्नि के आदि स्रोत व भण्डार इस सूर्य से पृथिवी पर अग्नि आती है (सूर्यो-उग्नेर्योनिरायतनम् तै.ब्रा. ३।६।२१।२) और वह यहां औषधि, वनस्पति तथा अन्य प्राणियों की उत्पत्ति में कारण बनती है। उन में फिर नये रूप में प्रकट होती है। उसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में विद्यमान सूर्य से सप्तरश्मियों, सप्तकिरणों, सप्तेन्द्रियों के रूप में जो शक्ति इन्द्रिय-गोलकों में पहुंचती है, वह अग्नि है। इन इन्द्रिय-गोलकों में इस अग्नि को अत्यधिक मात्रा में प्रकट करना अर्थात् इसे दिव्य बनाना ही इस अग्नि-खनन का वास्तविक प्रयोजन है। यहां हम सब इन्द्रियों का ग्रहण न कर चक्षु सम्बन्धी इन्द्रिय में ही दिव्य अग्नि के पैदा करने के साधनों पर विचार करते हैं। चक्षु को अपने केन्द्र (Brain centres) से बाह्यवस्तु तक पहुंचने में तीन क्षेत्र पार करने पड़ते हैं। एक तो मस्तिष्क-द्रव से चक्षु

केन्द्र तक दूसरा चक्षुकेन्द्र से गोलक तक तीसरा गोलक से बाह्य विषय तक ये तीन क्षेत्र है। इन्हीं तीनों क्षेत्रों के आधार पर चक्षु को तीन नाम दिये गये है और वे भी पशुओं के नाम रखे गये हैं। वे नाम इस प्रकार है अश्व, रासभ और अज। अब सब से पूर्व हम अश्व पर विचार करते हैं।

अश्व —

इस सौर मण्डल का अधिपति आदित्य अर्थात् सूर्य है। इससे प्रसृत होने वाली १ सैकड़ों व सहस्रों किरणें वेदों में अश्व कही गई हैं। परन्तु इन किरणों का अश्व नाम उसी समय होता है, जब कि वे अग्नि रूप में संपूर्ण पृथिवी को अभिव्याप्त (अशूङ् व्याप्तौ) कर लेती हैं। इसी प्रकार मानव शरीर में मस्तिष्कान्तर्गत विज्ञानात्मा भी सूर्य है। जिस से सैकड़ों व सहस्रों नस नाड़ियों के माध्यम द्वारा ऐन्द्रियिक शक्तिएं शरीर मे चहुं ओर प्रसृत हो रही हैं। जिस प्रकार भौतिक सूर्य की ये सैकड़ों व

१ यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त वह्वीः। अथर्व. १३।२।६.७
सूर्यस्याश्वा हरयः। अथर्व. १३।१।२४।

सहस्त्रों किरणें स्वरूप की दृष्टि से ७ प्रकार की हैं। इसी प्रकार ये सैकड़ों नस नाड़ियां भी सात१ इन्द्रियकेन्द्रों में विभक्त करने पर ७ प्रकार की कहलाती हैं। ये अपने गोलकों व विषयों में व्याप्त होने के कारण अश्व नाम से कही जाती हैं। यह भौतिक सूर्य ही आदित्य है। यही सूर्यकिरणों के रूप में २ अश्व नाम को धारण करता है। इस अश्व३ का दिव्य जन्म द्युलोक में है। अन्तरिक्ष इस का मध्यबिन्दु है और पृथिवी इस की योनि है। यह पार्थिवाग्नि भी इसी का प्रसृत व व्याप्त रूप है। इस लिये आदित्य, अग्नि और अश्व ये सब नाम

---

१ सप्तादित्य=सप्तेन्द्रिय।

२ असौ वा आदित्य एषोऽश्वः। श.प.६।३।१।२९।
असौ वा आदित्य एषोऽग्नि.। श.प. ६।४।३।१०।
अग्निर्वा अश्वः। श.प.३।६।२।५।

३ दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्। यजु. ११।१२।

एक ही तत्त्व के द्योतक हैं, और सूर्य के विभिन्न रूप हैं। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सूर्य के ये सब रूप रहते हुये भी उस का प्रमुख रूप १चक्षु है जो कि सम्पूर्ण भुवन का दिखाने वाला है। इसी प्रकार शरीर में भी मस्तिष्क-सूर्य सप्तेन्द्रियों द्वारा अभिव्याप्त होने से अश्व कहलाता है। परन्तु इस का प्रमुख रूप चक्षु में है। मानव शरीर में यह चक्षु भी सूर्य व आदित्य का ही २अंशावतार है। इस लिये हम यहां आदित्य को चक्षु मानकर उस के अश्वरूप को प्रदर्शित करते हैं? वास्तव में सम्पूर्ण चक्षु का नाम अश्व है। परन्तु सूक्ष्म विवेचन के लिये उस के तीन विभाग किये गये हैं। और वे तीन विभाग भी तीन पशुओं के नाम से हैं। इन में इन्द्रिय गोलक से बाहिर भूमि पर विद्यमान वस्तु को घेरने वाली चक्षु-किरण ही अश्व कहलाती है (भूम्या वृत्वाय यजु० ११।१६) अश्व के दस रूप को शास्त्रों में

---

१ सूर्यो भूतस्यैक चक्षु। अथर्व १३।१।४५

२ सूर्यो मे चक्षुषि श्रित। तै ब्रा. ३।१०।८।५

इस प्रकार दर्शाया गया है "[1]प्रजापति की आंख बढ़ी और परे जाकर गिरी उस ने वस्तु को व्याप्त किया और वह अश्व कहलाई।" इस उपर्युक्त उद्धरण में "परापतत्" प्रयोग से यह स्पष्ट है कि चक्षु-गोलक से निकलकर पदार्थ पर गिरने वाली और वस्तु को अभिव्याप्त करने वाली चक्षु-किरण ही अश्व नाम से कही जाती है। अग्नि-खनन के लिये यह आवश्यक है कि चक्षु-किरण निरन्तर वस्तु को देखे। पृथिवी पर विद्यमान वस्तु को निरन्तर देखना, मस्तिष्क में विद्यमान अग्नि को खोदना है, जिससे चक्षु दिव्य बनती है। इसी बात को मन्त्र में कहा है कि "वह [2]वाजी पृथ्वी पर आते

---

१ प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत्परापतत्ततोऽश्व समभवद् यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्। चक्षुषोऽश्वम्–श. प. ७।५।२।६ श. १३।३।१।१ । तै ब्रा १।१।५।४।

२ आगत्य वाज्यध्वान सर्वा मृधो विधूनुते।
अग्नि सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते।
यजु ११।१८

हुए मार्ग के सब शत्रुओं को कंपा देता है। और महत् सधस्थ अर्थात् मस्तिष्क में विद्यमान अग्नि को चक्षु से देख लेता है।" इस प्रकार मन्त्र के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चक्षु से देखते तो हम पृथ्वी पर है, पर अग्नि जागृत होती है मस्तिष्क में चक्षु केन्द्र की। परन्तु कहा यह जाता है कि अग्नि पृथ्वी के सधस्थ से खोदी गई। पृथ्वी पर निरन्तर देखते रहने पर होता यह है कि चक्षु पृथ्वी को देखते हुए भी नहीं देखती। वह कुछ समय पश्चात् अपने केन्द्र में आरोहण कर जाती है। इसी तथ्य को मन्त्र में इस प्रकार कहा है कि "स्व को ओर आरोहण करते हुए हम उत्तम १नाक अर्थात् मस्तिष्क मे शुभ लक्षणों वाली अथवा श्रेष्ठ ज्ञान कराने वाली अग्नि का खनन करते हैं।"

इस प्रकार प्रमाणों से हमने यह देखा कि चक्षु का वह रूप या वह किरण अश्व है, जो कि इन्द्रिय-गोलक से निकलकर पृथ्वी पर बाह्य वस्तु को

---

१ तत खनेम सुप्रतीकमग्नि स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम्। यजु. ११।२२।

अभिव्याप्त कर लेती है। अब हम चक्षु के अज रूप पर भी विचार करते हैं।

अज

कपाल के अन्दर विद्यमान १रस (आपः= Cerebro Spinal Fluid) अज है। वस्तुतः इस रस को अज नहीं कहते, इस रस में जो गति व क्षेपण (अज गतिक्षेपणयोः) का गुण है, वही अज है। यह आदित्य व सूर्य का स्थान है अर्थात् द्युलोक है। इस रस के चारों ओर सिर के अन्दर विद्यमान सप्तऋषि अपना २ आश्रम बनाकर विराजमान हैं। इस रस-स्थान से सब इन्द्रियों व संपूर्ण शरीर की नस-नाड़ियों को आज्ञाप्रदान करना, प्रेरित करना तथा उन्हें अग्नि पहुंचाना आदि काम इस अज रूपी रस, का ही है। इस लिये इस अज को आग्नेय भी कहा गया है। सब इन्द्रिय-गोलकों, वेद की भाषा में सब ऐन्द्रियिक पशुओं को उसी अज केन्द्र से अग्नि, रस व शक्ति आदि आती जाती है।

१ अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् सोऽजो-ऽभवत्। श प ६।१।१।११

इसलिये १अज को सब पशुओं का रूप बताया गया है। २वाक् और ब्रह्म भी यही अज है। यह वाक् ब्रह्मसंवलित वाक् है जो कि सप्तेन्द्रिय द्वारों में विभक्त होती है। जब यह ३वाक् गति व क्षेपण गुण प्राप्त कर सब इन्द्रिय-द्वारों में पहुंचती है, तब गति के कारण इस वाक् को भी अज कह देते हैं। चक्षुशक्ति को बाहर गोलकों के प्रति प्रेरित करना इसी अज का काम है।

रासभ

हम पूर्व में यह दर्शा चुके हैं कि अज और अश्व मानव शरीर में विद्यमान ऐन्द्रियिक शक्तियां हैं, तो इससे यह स्पष्ट है कि रासभ भी मनुष्य की कोई आन्तरिक शक्ति ही होनी चाहिये। इसे

---

१ अजे हि सर्वेषा पशूना रूपम्। श प. ६।५।१।४।

२ वाग्वा अज', ब्रह्म वा अज.। श.प. ७।५।२।२१,६।४।४।१५।

३ वाचोऽज निरमिमीत। श.प ७।५।२।६।

हम इस प्रकार समझ सकते है कि कपाल मे विद्यमान रस भ्रज है, जो कि चक्षुकेन्द्र को गति देता है। आगे चक्षु केन्द्र से चक्षुगोलक तक ऐन्द्रियिक शक्ति को वहन करके लाने वाला रासभ है। और गोलक से बाहिर पृथिवी पर आकर वस्तु को घेरने वाली चक्षुकिरण अश्व है। यह चक्षु-किरण जब तक गोलक में ही रहती है, तब तक उसे रासभ वहन करता है। रासभ से यहां खच्चर व गर्दभ पशु का ग्रहण नहीं करना है। यह तै. सं. के निम्न वाक्य से ध्वनित हो रहा है। वहां आता है कि जो १पुरीष्य अग्नि को धारण करने वाला अवयव है, उसे ऋषि लोग "रासभ" कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि रासभ खच्चर व गर्दभ पशु नहीं है। हां, रासभ पशु से कुछ २ गुण व क्रिया का साम्य हो सकता है। चक्षुकेन्द्र से चक्षुगोलक तक अश्वियों के

---

१ नानदद्रासभः पत्वा इत्याह रासभ इति ह्येतमृषयोऽवदन् भरन्नग्निं पुरीष्यमित्याहाग्निं ह्येष भरति। तै.सं.५।१।५।

क्षेत्र है। इन्हें ही अश्वियों के १बाहु कहते हैं। रासभ अश्वियों का वाहन है। इस प्रकार चक्षु के तीन विभाग किये गये हैं, जो कि आनुपूर्वी क्रम से इस प्रकार है अर्थात् पहले २अश्व फिर रासभ और फिर अज। यह आनुपूर्वी क्रम बाहिर की ओर से अन्दर की ओर को है। अर्थात् अश्व के पैर भूमि पर आकर पड़ते हैं (भूम्या वृत्वाय)। और रासभ के पैर चक्षु-गोलक पर। इसी दृष्टि से सायणाचार्य ने कात्यायन श्रौत सूत्र की निम्न प्रकार व्याख्या की है। ३"पहले अश्व मध्य में रासभ और फिर अज यह आनुपूर्वी क्रम से समझने चाहिये।" यह क्रम बाहिर की ओर से अन्दर की ओर को है। भूमि पर

१ युञ्जाथा रासभ युवम्० यजु० ११।१३।

२ अश्व. प्रथमोऽथ रासभोऽयाज एव ह्येतेऽनु-पूर्वम्। श.प. ६।३।१।२८।

३ प्राचोऽश्वगर्दभाजा. पूर्वापरा रासभो मध्येऽश्व-पूर्वाः। का.श्रौ. १६।४७।
अश्वपूर्वा पद्भ्या पूर्वापरा. सन्त. प्राञ्च. प्राङ् मुखा. तिष्ठन्तीति।
सायण श.प. ६।३।१।२७

विद्यमान वस्तु पर चक्षु-इन्द्रिय के पैर पड़ते है। पैर वस्तु पर हैं तो सिर की ओर से अन्दर की ओर को प्रयाण करना होता है। इसी दृष्टि से सायणाचार्य ने सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह पूर्वापर पैरों की ओर से लेना है। अश्व के पैर भूमि पर पड़कर वस्तु को अभिव्याप्त कर लेते हैं, और फिर इन्द्रिय-गोलक की ओर प्रयाण करने पर रासभ के पैर चक्षुगोलक पर मिलते हैं। इस प्रकार अन्दर की ओर प्रयाण करते हुये इन्द्रियों के केन्द्र स्थान में पहुंच जाते हैं।

अश्व का पूर्वयोग—

अब विचारणीय यह है कि अश्व का पूर्वयोग क्यों किया जाता है? और अश्व, रासभ और अज को पूर्वोत्तर क्रम से योग करने का क्या तात्पर्य है? इत्यादि बातें गम्भीर विवेचन की अपेक्षा रखती हैं। हमारे विचार में यह ध्यानयोग सम्बन्धी एक गुह्य प्रक्रिया है। चक्षु में दिव्य अग्नि के आविर्भाव व दिव्यशक्ति की उत्पत्ति के लिये एक प्रच्छन्न साधन है। अश्व के पूर्वयोग का तात्पर्य यह है कि सब से पूर्व वस्तु को एकाग्र दृष्टि से निरन्तर देखना।

इस अवस्था मे दृष्टिशक्ति वस्तु को अभिव्याप्त कर लेती है। यह अश्व का पूर्वयोग है। यहां यह प्रश्न पैदा होता है कि अश्व का पूर्वयोग क्यों करे ? अर्थात् सब से पूर्व बाह्य वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित क्यों किया जाये ? इस का समाधान यह है कि मनुष्य का ध्यान बाह्य वस्तु पर ही अधिक केन्द्रित होता है। रासभ की अवस्था अर्थात् इन्द्रियगोलकों मे ध्यान लग ही नहीं सकता। क्योंकि इस अवस्था में ध्यान का कोई लक्ष्य नहीं होता। इस लिये मन अपने स्वभाव के अनुसार इधर उधर उछाल भरता रहता है। मन में नाना प्रकार के विचार उद्बुद्ध होते रहते हैं। परन्तु यदि पहले ही किसी बाह्य वस्तु पर दृष्टि शक्ति को बांध दिया जाये तो मन हो स्वभाव से बंध जाता है। यह बाह्य वस्तु मन रूपी पशु के लिये यूप का काम करती है। अश्व का पूर्वयोग "योगदर्शन की परिभाषा मे सम्बन्ध-संयम' का रूप है। एक वस्तु पर ध्यान को निरन्तर केन्द्रित करने पर ध्यान स्वयं ही शनैः शनैः अन्दर की ओर प्रयाण करता है। और अश्व रासभ व अज का स्वयं ही योग होता चला जाता है। बहिर्मुखी

अवस्था से अन्तर्मुखी अवस्था हो जाती है । १अश्व और रासभ के योग का फल शास्त्रों में इस प्रकार बताया है कि अश्व का पूर्वयोग और गर्दभ का अपरयोग पाप विचार की निवृत्ति के लिये होता है। अश्व से अन्दर की ओर प्रयाण करना अग्नि के खनन२ के लिये है और पापादि ३विचारों व संहारक भावों के अभिभव के लिये है। ये आसुरी शक्तियां बहुमुखी होती है और पाप का आंशसन करने वाली होती हैं। इस प्रकार बहुमुखी और बहिर्मुखी वृत्ति को पाप व भ्रातृव्य कहा गया है। यह बहुमुखी वृत्ति उस समय समाप्त हो जाती है, जब कि मनुष्य बाह्य वस्तु को एकटक होकर देखता है। यह अश्व का पूर्वयोग है। इस के अनन्तर शनैः २ मनुष्य का ध्यान वस्तु से हटकर इन्द्रिय-

१ अश्वं पूर्वं नयन्ति गर्दभमपर पापवसीयसस्य व्यावृत्यै । मै.सं. ३।१।२ ।

२ यदश्वेन यन्त्यग्नेरेवानुख्यात्यै । मै.सं. ३।१।३

३ यदश्वेन भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै । एतं वै रक्षांसि नातरन् बहु वै भ्रातृव्यः पापमाशस्तिः भ्रातृव्यः । कपि २६।८ ।

गोलकों में आ केन्द्रित हो जाता है। यह अश्वियों का क्षेत्र है। मन्त्र में अश्वियों से कहा है 'युञ्जाथां रासभं युवम्' हे अश्वियों ! तुम रासभ को युक्त करो। इस के पश्चात् ध्यान को मस्तिष्क मे केन्द्रित करना होता है। ध्यान को मस्तिष्क मे केन्द्रित करना 'अ्रज' में केन्द्रित करना है। यहां पहुंचकर दिव्य अग्नि का खनन किया जाता है। यह सब प्रक्रिया स्वयं होती जाती है। मनुष्य का केवल प्रयत्न यह होना चाहिये कि वह बहुमुखी विचार को उद्बुद्ध न होने दें। और यह बहुमुखी विचार भी मनुष्य को आक्रान्त नहीं कर सकता, यदि वह अश्व का पूर्वयोग पूर्ण रूप से करता है।

अग्नि का खनन व उसके साधन—

वेद में अग्नि को खोदने का १साधन अभ्रि बताया गया है। अभ्रि एक प्रकार की कुदाल है, जिस से अग्नि खोदी जाती है। २सविता इस

१ अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निं शकेम खनितु सधस्थ आ। श. प. ६।३।१।४१ यजु. ११।१०।

२ हस्त आधाय सविता बिभ्रदभ्रिं हिरण्ययीम्। यजु. ११।११ श. प ६।३।१।४१।

अभ्रि को अपने हाथ में धारण करता है और अग्नि को खोदता है। यहां सविता [१]मन को बताया गया है और अभ्रि छन्दोमयी [२]वाक् है। इसका भाव यह है कि चक्षु केन्द्र में पहुंच कर मनोयोग द्वारा जब हम छन्दोमयी वाणी का बार २ प्रहार करते हे तो यह केन्द्र स्थित अग्नि खोदी जाती है। वेद की भाषा में यह कहा जा सकता है कि मन रूपी सविता ने वाणीरूपी अभ्रि को पकड़ा हुआ है। सविता प्रेरक को कहते हैं। मन भी वाणी को बार २ प्रेरित करता है अतः मन सविता है। मन रूपी सविता तीन मन्त्रों द्वारा इस वाक् रूपी अभ्रि को पकड़ता है। वे मन्त्र यजु. ११।६-११ हैं। इस

---

१ मनो वै सविता प्राणा धिय.।
श.प. ६।३।१।१३।

२ हिरण्मयी ह्येषा या छन्दोमयी, तान्येतान्येव छन्दास्येषा अभ्रि.। श.प. ६।३।१।४१। वाग् वा अभ्रि–वाचा वा एतमभ्र्या देवा अखनंस्तथैवैनमयमेतद्वाचैवाभ्र्या खनति।
श.प. ६।४।१।५।

प्रकार चाक्षुष अग्नि के प्रज्वलित करने, चक्षु-इन्द्रिय में दिव्यशक्ति पैदा करने के लिये अश्व रासभ और अज के क्रम से चक्षुकेन्द्र मे पहुंच कर पूर्ण मनोयोग पूर्वक उपर्युक्त मन्त्रों का उच्चारण व जप करना चाहिये। इस प्रकार करने से चक्षु इन्द्रिय में दिव्य अग्नि की उत्पत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों की अग्नियों को प्रदीप्त किया जा सकता है। "प्रदीप्ता एते अग्नयो भवन्ति" श. प. ६।३।३।१। इन ऐन्द्रियिक अग्नियों की प्रदीप्ति व दिव्योकरण की प्रक्रियायें बड़ो सूक्ष्म व गहन हैं। इन का एक २ क्रम व पद-विन्यास बहुत सम्भल कर करने की आवश्यकता है। यह सब ब्राह्मण ग्रन्थों व यजु शाखाओं में अतिविस्तार से दे रक्खा है। हमने संक्षेप में इस विस्तृत प्रकरण की केवल व्याख्या शैली ही प्रदर्शित की है। इन अग्नियों के प्रदीप्त होने व दिव्योकरण से मनुष्य ऋषि बन जाता है।

—०—

इन्द्र और ऋषि

मानव जगत् में स्वभावतः वर्णव्यवस्था चार भागों में विभक्त है। भारतीय परम्परा के अनुसार ये चार वर्ण ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से कहे जाते हैं। इन वर्णों में पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण से उत्कृष्ट होता चला गया है। अर्थात् शूद्र से वैश्य उत्कृष्ट है, वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण उत्कृष्ट है। मानवोन्नति की चरमसीमा के लिये वैश्य यदि प्रथम सोपान है तो ब्राह्मण अन्तिम सोपान है। परन्तु आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करते ही ब्राह्मण प्रथम सोपान बन जाता है। ब्रह्म शक्ति अर्थात् अग्नि को सर्वप्रथम उद्बुद्ध करना पड़ता है। इस आध्यात्मिक जगत् में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नामों से व्यवहार नहीं होता अपितु अन्य कई तद्वाचक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थं [1]अग्नि, इन्द्र और विश्वे-

---

१ अयमग्निर्ब्रह्म। यजु १७।१४, ब्रह्म ह्यग्नि। श.प. १।५।१।११ आग्नेयोब्राह्मणः ता.ब्रा. १५।४।८ तै २।७।३।१ ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति श.प. १।४।२।८ क्षत्रं वा इन्द्र। श प. २।५।२।२७ ऐन्द्रो वै राजन्य.। तै ३।८।२३।२ वैश्वदेवो हि वैश्य., तै. २।७।२।२ विड् वैश्वदेवा. श प १०।४।१।१६

देव आदि कई वैदिक शब्द हैं जो कि आध्यात्मिक क्षेत्र में वर्णों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन मे अग्नि आध्यात्मिकता के लिये प्रथम शर्त है, प्रथम परिश्रम है, प्रातः सवन है, गति का प्रारम्भ है, अभियान का प्रारम्भ व सेना का प्रयाण है। अग्नि रथ व वाहन है, जो कि यजमान को इन्द्रादि देवों के पास पहुंचाती है। अग्नि पुरोहित है, सामने विद्यमान है पर इन्द्र पुरुहूत है। अत्यधिक आह्वान करने पर प्राप्त होता है। अग्नि प्रवेशद्वार है तो इन्द्र राजभवन के अन्दर राजसिंहासन पर आसीन है। अग्नि मृदु हृदय वाला है तो इन्द्र अद्रि व उग्र है। अग्नि अमरदेवों की पंक्ति मे प्रथम है तो इन्द्र का स्थान दूसरा है। अग्नि में रक्षागुण (Defence) है तो इन्द्र में आक्रामक भाव (Offence) है। इसी लिये यह वज्री, वज्रभृत् वज्रबाहु आदि नामों से सम्बोधित हुआ है। अग्नि को वीर्यरूपी घृत की आहुति दी जाती है जिस से कि वह मनुष्य में समिद्ध व प्रदीप्त होकर ऊर्ध्व की ओर गति करती है। इन्द्र सोमपान करता है और चहुं ओर समुद्र को तरह फैलता है। अग्नि जातवेदा अर्थात् उत्पन्न

मात्र पदार्थ में विद्यमान है। उस का प्राप्त करना व स्तुति करना सरल है, पर इन्द्र उग्र होने से सब को सुलभ नहीं है। ऋषि ही उस को प्राप्त कर सकते हैं। अग्नि उषाकाल की मृदुकिरणों वाला सूर्य है तो इन्द्र प्रचण्ड व प्रखर किरणों वाला मध्यान्ह का सूर्य है। अग्नि दूत बनकर भक्त का संदेशा देवों के पास पहुंचाती है, उन की हवियों का वहन करती है तो इन्द्र भक्त व यजमान के पास पहुंच कर सुख व ऐश्वर्य की वर्षा करता है। अग्नि ब्रह्मशक्ति है तो इन्द्र क्षात्रशक्ति है, इस प्रकार अग्नि और इन्द्र की पारस्परिक समताओं और विभिन्नताओं का हमने दिग्दर्शन कराया। इसी प्रकार और भी विशेषतायें दिखाई जा सकती हैं। इन की कुछ विशेषतायें हमने आत्मसमर्पण नामक पुस्तक में भी दिखाई हैं।

अग्नि ही सब देवों का रूप धारण करती है

वेदान्तर्गत मन्त्रों पर सूक्ष्मदृष्टि से विवेचन करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि अग्नि ही सब देवों के रूप धारण करती है। उदाहरणार्थ २य मण्डल का १म सूक्त देखा जा सकता है। क्योंकि

अग्नि ही सब देवों के रूप धारण करती है अतः अग्नि के बहुत से गुण उन देवों में भी दृष्टि-गोचर होते हैं। यह निश्चित है कि अन्य देवरूपों में परिणत हो अग्नि के कुछ गुण गौण हो जाते हैं, नये गुण व विशिष्ट शक्तियां प्रादुर्भूत हो जाती हैं। ऊपर हमने अग्नि और इन्द्र के जो विभेदक गुण प्रदर्शित किये हैं, वे पूर्णरूप से विभेदक हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। उन में बहुत से गुण व विशेषतायें दोनों में सामान्य रूप से मिलती हैं पर वे भी एक में प्रमुख हैं और दूसरे में गौण। उदाहरणार्थ अग्नि और इन्द्र के कुछ गुण हम यहां प्रदर्शित करते हैं।

	अग्नि	इन्द्र
१. उग्र	न्यून	प्रभूत
२. धृष्णु	"	"
३. पति	"	"
४. पुरुहूत	"	"
५. पुरुष्टुत्	"	"
६. पावक	प्रभूत	न्यून
७. जातवेदा	"	नहीं
८. द्वारः देवी	"	"
९. नराशंस	"	"

इस प्रकार अग्नि और इन्द्र के कुछ विशेषण हमने ऊपर प्रदर्शित किये। अग्नि अत्यधिक जाज्वल्यमान व प्रबुद्ध होकर जब उग्र बन जाती है, तब वह इन्द्र का रूप धारण करती है। अग्नि अपने पूर्व रूप में रहती हुई पाप आदि शत्रुओं का धर्षण कम करती है, परन्तु इन्द्र रूप मे होकर शत्रुओं का धर्षण करना उस का प्रमुख कार्य होता है। अग्नि में नेतृत्व गुण है, तो इन्द्र में पति व शासक के गुण हैं। नेतृत्व में मनुष्यों से प्रशंसा प्राप्त होती है, इसलिये अग्नि को नराशंस कहा गया है। पर वही अग्नि इन्द्र रूप में होकर मनुष्यों से अगम्य होती है। वहां प्रशंसा भाव इतना नहीं होता जितना कि भयमिश्रित तेजस्विता व रोब से मनुष्य आक्रान्त होता है। इसी कारण अग्नि को पतिरूप मे स्वल्पस्थानों में स्मरण किया है, और इन्द्र को बहुत स्थानों में। अग्नि द्वार पर उपस्थित रहने वाली देवी है, इस लिये प्रत्येक व्यक्ति सब से पूर्व उसी के पास पहुंचता है। इन्द्र द्वार पर कभी आता ही नहीं। उसे तो गुहा में पहुंचकर प्राप्त करना होता

है। जो व्यक्ति अग्नि के सम्पर्क में आता है, उस को वह सर्वप्रथम पवित्र करती है। इसलिये अग्नि को पावक अनेकों स्थलों पर कहा गया है। परन्तु अग्नि द्वारा जो मल भस्म न हो सका उस को इन्द्र अपने वज्रप्रहार द्वारा विनष्ट करता है। इस कारण इन्द्र का पावक रूप अति गौण है। यही भाव पुरुहूत व पुरुष्टुत शब्दों में है।

पुरुहूत इन्द्र

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि अग्नि पुरोहित है। सब के समक्ष उपस्थित रहती है (पुरः-हित)। परन्तु इन्द्र पुरुहूत व पुरुष्टुत है। इस का भाव यह है है कि इन्द्र की प्राप्ति सुगम नहीं है। उसे प्रभूत मात्रा में आह्वान करना पड़ता है। उसकी अत्यधिक मात्रा में स्तुति करनी पड़ती है, तब कहीं वह प्रसन्न होकर दर्शन देता है। अतः प्रायः इन्द्र के लिये ही पुरुहूत व पुरुष्टुत शब्दों का प्रयोग हुआ है। क्योंकि अग्नि के बाद ही इन्द्र का स्थान आता है। अतः जब तक अग्नि मनुष्य में उद्बुद्ध होकर समिद्ध व प्रदीप्त न हो तब तक इन्द्र की स्तुति का कोई

विशेष लाभ नहीं है। यदि सामान्य जन बिना अग्नि धारण किये इन्द्र सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा स्तुति करता है, तो वह व्यर्थ है, क्योंकि उन स्तुतियों को इन्द्र तक पहुंचाने के लिये अग्नि तो है ही नहीं। यह अग्नि ही दूत व हव्यवाहन बन कर देवों के पास पहुंचती है। जब तक हम इस रहस्य को न समझेंगे तब तक मन्त्रों द्वारा की गई स्तुति निष्फल रहेगी। स्तुति की वास्तविकता सफलता ऋषि कोटि में पहुंच कर होती है। ऋषियों की स्तुति में ही वह सामर्थ्य है कि वे इन्द्र को सामने ला उपस्थित करती है। इसी लिये मन्त्र में कहा है कि वह इन्द्र ऋषियों की स्तुतियों (ऋषीणां स्तुतीः ऋ. १।८४।२) में पहुंचता है। कारण यह है कि वे ऋषि अग्नि अवस्था को पार कर चुके होते हैं। उन में अग्नि अत्यधिक उद्‌बुद्ध व समिद्ध होती है, जिस के बल से दूर से दूर स्थान पर विद्यमान इन्द्र को स्तुति रूप हवि जा पहुंचती है। अतः पुरुष्टुत का भाव यह है कि स्तुति की बहुतायत होना और स्तुति में ओजस्विता व शक्तिसम्पन्नता का होना। इन्द्र

की स्तुति का स्वरूप और उस स्तुति की सफलता का रहस्य क्या है, यह निम्न मन्त्र में ध्वनित हो रहा है।

"वह इन्द्र नये २ ऋषियों द्वारा विविध प्रकार से बहुत स्तुति किया जाता है। वह इन्द्र परिपक्व फल वाले वृक्ष के समान है। प्रशस्त आयुधों से युक्त विजयी वीर के समान शत्रुओं को जीतने वाला है। जिस प्रकार स्त्री को बहुत मानने वाला पुरुष स्त्री की प्रशंसा व खुशामद करता रहता है उसी प्रकार मैं उस पुरुहूत इन्द्र की स्तुति करता हूं।"१

सामूहिक स्तुति

स्तुति दो प्रकार से हो सकती है एक सामूहिक स्तुति और दूसरी वैयक्तिक स्तुति। वैयक्तिक स्तुति की अपेक्षा सामूहिक स्तुति अधिक बलशालिनी व आशुफलदायिनी होती है। वैयक्तिक स्तुति में आसुरी शक्तियां व्यक्ति के मन को आसानी से

---

१ वि यो ररप्श ऋषिभिर्नवेभि र्वृक्षो न पक्व सृण्यो न जेता। मर्यो न योषामभिमन्यमानो-ऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम्। ऋ. ४।२०।५

आक्रान्त कर लेती है, पर सामूहिक स्तुति के सामने वे भी नहीं टिक सकतीं। क्योंकि उन मे एक उद्देश्य के प्रति सामूहिक प्रयत्न व सामूहिक शक्ति होती है। उन मे परस्पर आकर्षण होता है। वे एक दूसरे को सहारा देते हुये अभीष्ट मार्ग पर सुगमतया जाती है। निम्न मन्त्र मे ऋषियों द्वारा विहित सामूहिक स्तुति का इस प्रकार वर्णन हुआ है —

"हे[१] सर्वपूज्य व महिमाशाली इन्द्र! हृदयासन को बिछाये हुए बहुत से ऋषियों द्वारा तेरी मिलकर स्तुति की जाती है। हे शत्रुहिंसक! इस प्रकार स्तुत होकर तू ऋषियों को उन की दिव्य गौओ से उसी प्रकार मिला देता है जिस प्रकार बछड़ों को गौओं के पास पहुंचा दिया जाता है।"

मन्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार बछड़ों

---

१ भूरिभि. समह ऋषिभि र्बर्हिष्मद्भिः स्तविष्यसे। यदित्थमेकमेकमिच्छर वत्सान् पराददः। ऋ० ८।७०।१४

को स्तन्यपान के लिये गौओं के पास ले जाया जाता है, उसी प्रकार ऋषियों को दिव्यज्ञान रूपी दुग्धपान के लिये वह इन्द्र दिव्य गौओं से मिला देता है। यह सामूहिक स्तुति का प्रभाव है। इसी प्रकार एक और मन्त्र है, जहां कि इन्द्र को उस के वाहन हरी ऋषियों की स्तुतियों मे ले जाते हैं। यह भी सामूहिक स्तुति है। मन्त्र इस प्रकार है–१"अदम्य बल वाले इन्द्र को हरी ऋषियों की स्तुति में और मनुष्यों के यज्ञ मे वहन करके ले जाते हैं।"

इस प्रकार वेद मन्त्रों में इन्द्र की सामूहिक स्तुति का विधान है। सामूहिक स्तुति से प्रवृद्ध हो वह इन्द्र समुद्र समान सर्वत्र फैल जाता है। इस में यह आवश्यक नहीं कि एक ही स्थान पर सहस्रों ऋषि विद्यमान हों। उन के दूर २ रहते हुए भी सामूहिक स्तुति हो सकती है। क्योंकि ऋषि कोटि में पहुंच कर स्थान की दूरी का कोई महत्व नहीं रहता। अध्यात्म सम्बन्धी सूक्ष्म जगत् की दूरियां

१ इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्।
ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्।
ऋ. १।८४।२।

ब्रह्मबल की रक्षा करता है तब उन के आह्वान में तेरी महिमा ही व्याप्त हो जाती है अर्थात् सब ओर से तेरी महिमा को बखान करने वाले आह्वान होने लगते हैं ।

ऋषि ही इन्द्र को प्राप्त कर सकते है

जैसा कि हम पूर्व में दर्शा चुके हैं कि सामान्य जन इन्द्र को प्राप्त नहीं कर सकते । एक प्रकार से वे उस की स्तुति के भी अधिकारी नहीं हैं । क्योंकि अग्नि के अभाव में उन की स्तुति इन्द्र तक नहीं पहुंच सकती और व्यर्थ जाती है । अतः इन्द्र को प्राप्त करने के अधिकारी ऋषि हैं । मन्त्र में आता है कि "वह १इन्द्र कहां सुना जाता है ? आज किस मनुष्य से मित्र के समान रहता हुआ सुना जाता है ?

उत्तर में कहा कि इन्द्र ऋषियों के घर मे हृदय गुहाओं में वाणी द्वारा आकृष्ट होकर पहुंचता

---

१ कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते ।
ऋषीणां वा य. क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा ।
ऋ १०।२२।१ ।

है।" १कौनसा बुद्धिमान ऋषि तुझे वहन कर सकता है अर्थात् कोई विरला ही ऋषि तुझे धारण करने में समर्थ है।"

पूर्व ऋषि भी इन्द्र की संपूर्ण महिमा न जान सके

"२हे इन्द्र! तेरी सम्पूर्ण महिमा का अन्त पूर्वऋषि भी नहीं पा सके। क्योंकि तूने अपने शरीर से द्यावा पृथिवी रूप हमारे माता पिता को एक साथ उत्पन्न कर दिया था।"

उपर्युक्त मन्त्र से दो तीन बातें ध्वनित होती हैं एक तो यह कि पूर्व ऋषि सृष्टि-निर्माण से भी पूर्व सज्ञान थे। वे सूक्ष्म जगत् के निर्माण के समय ही सूक्ष्म शरीर में ही उत्पन्न हो चुके थे। मन्त्र कहता है कि वे ऋषि भी इन्द्र की सम्पूर्ण महिमा न जान

१ ऋषिः को विप्र ओहते। ऋ. ८।३।१४।

२ क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत् पूर्वऋषयोऽन्तमापुः।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः। ऋ. १०।५४।३।

सके क्योंकि सृष्टि का निर्माण सर्वत्र एक साथ ही प्रारम्भ हो गया था। इस अवस्था में इस व्यापक व अनन्त वैचित्र्य परिपूर्ण सृष्टि का जानना ऋषियों के लिये भी दुष्कर था। इसी लिये कहा है कि पूर्व ऋषि भी जो कि जीवों में सर्वाधिक ज्ञान सम्पन्न व शक्तिशाली थे वे भी इन्द्र के अन्त को न पा सके।

इन्द्र का समुद्र सदृश फैलाव

१"यह इन्द्र सहस्रों ऋषियों द्वारा प्रबुद्ध हो समुद्र समान फैलता है। यज्ञों में और ज्ञानी ब्राह्मणों के राज्य में उस की सत्य महिमा तथा बल का बखान किया जाता है।"

२"जिस प्रकार नदियां समुद्र की ओर जाती हैं उसी प्रकार उक्थ नामक स्तोत्र इन्द्र की ओर जाते हैं।"

---

१ अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे। सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये। ऋ. ८।३।४।

२ इन्द्रमुक्थानि वावृधुः समुद्रमिव सिन्धवः ऋ. ८।६।३५।

ऋषि ब्रह्म द्वारा इन्द्र की वृद्धि करते है

१"हे इन्द्र ! ऋषि लोग ब्रह्म (मन्त्र व ब्रह्म-शक्ति) से तुझ प्रवृद्ध करते हुए और तुझ से याचना करते हुए सत्रयज्ञ में आसीन हुए है। हे सर्वव्यापक इन्द्र ! तेरी वीर्यशक्ति बहुत प्रकार की है। तू हमें नानारूपों वाले पशुओं अर्थात् अनेकविध ऐन्द्रियिक शक्तियों से हमारा प्रीणन कर और परम-व्योम स्थान में विद्यमान सुधासागर में मुझे धारण कर।"

उपर्युक्त मन्त्र में निम्न ३,४ शब्द विशेष रूप में विवेचनीय हैं। सत्र, नाधमाना, विष्णो और विश्वरूप पशु।

सत्र—सत्र बहुधा यज्ञ अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु यह यज्ञ सामान्य यज्ञ नहीं है। यह

---

१ त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तःसत्र निषेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् । अथर्व १७।१।१४ ।

आत्म दक्षिणा वाला यज्ञ है अर्थात् जिस में आत्मा अथवा शरीर का कोई अंग दक्षिणा रूप में दिया जाये। १शांखायन ब्राह्मण १५.१ में आता है कि दक्षिणाओं के द्वारा यज्ञको दक्षतायुक्त किया जाता है। इन दक्षिणा वाले यज्ञों में सत्र नामक यज्ञ आत्मदक्षिणा वाला होता है। इसलिये प्रतिदिन यह जप करे कि मैं अपने आप को कल्याणमयी कीर्ति, स्वर्गलोक व अमृतप्राप्ति के लिये दक्षिणा रूप में प्रदान करता हूं। इस प्रकार यह यज्ञ पूर्ण होता है। यह आत्मदक्षिणा यज्ञ आत्मसमर्पण ही है। यदि पूर्ण आत्मदान संभव नहीं है तो आवश्यकतानुसार शरीर का भी कोई अंग शरीर से पृथक् कर दक्षिणा रूप में दिया जा सकता है। आजकल रक्तदान रूपी यज्ञ प्रचलित है। यह भी एक प्रकार का सत्र यज्ञ है। क्योंकि यह रक्तदान रूपी यज्ञ भागवत जीवों के लिये होता है। इसी प्रकार शरीर के किसी भी अंग को शरीर से पृथक् कर आवश्यकता वाले मनुष्यों, प्राणियों, समाज व राष्ट्र के लिये प्रदान करना आत्मदक्षिणा वाला सत्र यज्ञ ही है। सत्र नामक याग का एक

स्वरूप 'ताण्डच महा ब्राह्मण' में इस प्रकार वर्णित हुआ है।

"आत्मदक्षिणं वा उ तद् यत् सत्रम्" यदा वै पुरुष आत्मनोऽवद्यति यं कामं कामयते तमभ्यश्नुते।" "द्वाभ्यां लोमावद्यति द्वाभ्यां त्वचं द्वाभ्यां मांसं द्वाभ्यामस्थि द्वाभ्यां मज्जानं द्वाभ्यां पीवश्च लोहितश्च। ता. ४।६,१६।२१

[1]यह सत्र नामक यज्ञ आत्मदक्षिणा वाला यज्ञ कहलाता है। इस यज्ञ में कामनावश आत्मा व शरीर के किसी भी अंग को काटकर देवार्पण किया जाता है। इस से अभीष्ट कामना पूर्ण हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि राष्ट्र को आवश्यकता है केशों की तो सत्रयज्ञ की भावना वाला व्यक्ति अपने केशों को काटकर या उखेड़ कर राष्ट्र के अर्पण

---

१ दक्षिणाभि र्वै यज्ञं दक्षयति तद् 'यद् दक्षिणाभिर्यज्ञं दक्षयति तस्माद् दक्षिणानामात्मदक्षिण वै सत्रं तस्मादहरहर्जपेयुरिदमहं मां कल्याण्यै कीर्त्यै स्वर्गाय लोकायामृतत्वाय दक्षिणान्नयानि। शा.ब्रा.१५।१।

कर देता है। इसी प्रकार रक्त, मांस मज्जा, आदि भी दिये जा सकते हैं। ऊपर के प्रकरण में यह सत्र सांवत्सरिक मानकर वर्णित हुआ है। और शरीर के अंग को दो महीनों की अवधि में देवार्पण करने का विधान किया है। अर्थात् लोम और त्वचा के देवार्पण में दो महीने का व्यवधान होना चाहिये। इसी प्रकार मांस, अस्थि, मज्जा, रक्त व पीप आदि के देवार्पण में दो २ मास का व्यवधान आवश्यक है। इस प्रकार दो २ महीनों के व्यवधान से यह वर्षभर चलने वाला सांवत्सरिक सत्र नामक यज्ञ है। हमारे विचार में दो मास की अवधि इस लिये रखी कि दान से हुई क्षति पूरी होती रहे। यह सत्र नामक यज्ञ का स्वरूप है। ऋषि लोग इस सत्र में आसीन होते हैं। और भगवान् को आत्मार्पण करते हैं।

दूसरा शब्द है नाधमानाः। इस का अर्थ प्रायः 'याचना' किया जाता है। परन्तु हमें यह ध्यान देना चाहिये कि यह इस का गौण प्रयोग है। इस का केन्द्रीय प्रयोग तो अनाथ से सनाथ होने में है। अर्थात् भक्त व ऋषि जब प्रकृति व

उस के बाह्य घटकों से सम्बन्ध तोड़ते है तो भगवान् की ओर प्रयाण करने में एक समय ऐसा आता है जब कि वह अपने को अनाथ समझते है। उस समय भक्त की यह याचना है कि मै सनाथ हो जाऊं। जिस प्रकार पत्नी पति से सनाथ होती है मजदूर मालिक से सनाथ होता है, उसी प्रकार ऋषि भगवान् से सनाथ होते है। नाधमाना का केन्द्रीय भाव यही है। जिन्होने 'सत्र' में भगवान् को आत्मा-पर्ण कर दिया वे ऋषि भगवान् को नाथ रूप में चाह रहे है।

अगला विवेचनीय शब्द विष्णो है। समस्या यह है कि जब देवता इन्द्र है तब मध्य में विष्णु का आ टपकना कहां तक संगत है? यदि यह कहा जाये कि विष्णु भी इन्द्र का ही दूसरा नाम है तो इस से भी समस्या हल नहीं होती है। चाहे सब नाम अन्ततोगत्वा भगवान् के ही है परन्तु वर्णन मे व्यवस्था रहनी ही चाहिये। यहां इन्द्र को विष्णु नाम से सम्बोधित करने का क्या प्रयोजन है? यह हम इस प्रकार समझते है कि भगवान् सर्वव्यापक होता हुआ भी सर्वदिशाओं में विभिन्न

नामों से वर्णित हुआ है। विष्णु की दिशा नीचे की "ध्रुवा" दिशा है। पृथिवी इस का स्थान है। पृथिवी पर रहता हुआ ही वह पराक्रम से सर्वव्यापक बनता है। तीन पादों में सर्वलोकों को आक्रान्त करने वाला विष्णु निचली दिशा से ऊर्ध्व को आरोहण करता है। इस दृष्टि से इन्द्र के अनेक प्रकार के वीर्यों का संस्मरण विष्णु रूप द्वारा ऊर्ध्वारोहण के प्रयोजन से किया गया है। और 'सुधायां मा धेहि परमेव्योमन्' मुझे अमृत स्थानी परम व्योम मे ले जा। इस प्रकरण के सब मन्त्रों की यही टेक है। भक्त मनुष्य के ये उद्‌गार हैं वह ऊपर परम व्योम में आरोहण करना चाहता है। आगे मन्त्र में विश्वरूप पशु पद है। ये पशु भी सामान्य नहीं है। जहां अमृत स्थानी परमव्योम में आरोहण की प्रार्थना है वहां पशु भी तदनुसार दिव्य पशु होने चाहियें। और वे ऐन्द्रियिक दिव्य पशु हो सकते हैं।

इन्द्र की देन

इन्द्र ऋषियों को अनन्त ऐश्वर्य व अनन्त

शक्तियां प्रदान करता है। इन्द्र शत्रु का मुकाबला करने और उस पर विजय प्राप्त करने के लिये ऋषि को प्रेरित करता है। इसी दृष्टि से इन्द्र का एक विशेषण 'ऋषिचोदनः' भी है। ऋषि पर जब असुर व दस्यु आक्रमण करते हैं तो रक्षा का काम इन्द्र का है। इन्द्र ऋषियों की रक्षा करता है। अग्नि भी रक्षा करती है पर इन दोनों की रक्षा में भेद है। अग्नि आपत्तियों को सहते हुए अभीष्ट मार्ग पर ले चलती है पर इन्द्र की छत्रछाया ऋषि को आक्रमणकारी बनाती है। ऋ. ८।५१।२ में मन्त्र आता है जहां कि इन्द्र ने ऋषि को वृक अर्थात् शत्रु के प्रति भेड़िया बना दिया है। वह इस प्रकार है—

सहस्राण्यसिषासद् गवामृषिस्त्वोतो दस्यवे
वृकः। ऋ. ८।५१।२

हे इन्द्र! तुझ से रक्षित प्रस्कण्व ऋषि ने दस्यु के प्रति वृक अर्थात् भेड़िया बनकर तत्सम्बन्धी सहस्रों गौयें ले लीं।

प्रियमेधा ऋषियों की इन्द्र से याचना

प्रियमेधा ऋषि वे हैं जिन को मेधा अति

प्यारी है। वे इन्द्र से क्या याचना करते हैं यह निम्न मन्त्र में दर्शाया गया है--

१"श्रेष्ठ पंखों वाले पक्षियों के समान दिव्यता की ओर उड़ान भरते हुये प्रियमेधा ऋषि इन्द्र के पास पहुंचे और यह याचना की कि हे इन्द्र! अन्धकार दूर करो, चक्षु को दिव्य प्रकाश से परिपूर्ण कर दो और पाशों में बद्ध हम को छुड़ाओ।"

अन्न-याचना

२"हे पुरुष्टुत इन्द्र? आर्ष स्तुतियों द्वारा प्राप्तव्य रक्षाओं से तू हमें बढ़ा। और अत्यन्त प्रवृद्ध अन्न को हमारे प्रति दोहन कर।"

---

१ वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमाना.। अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्। ऋ. १०।७३।११।

२ वर्धस्वा सु पुरुष्टुत ऋषिष्टुताभिरूतिभिः। धुक्षस्व पिप्युषीमिषमवा च न। ऋ. ८।१३।२५।

आयुवृद्धि और सहस्र दान

१"हे इन्द्र ! तू ऋषि की नवीन आयु का सम्यक् प्रकार से विस्तार कर और ऋषि को सहस्रों प्रकार के ऐश्वर्यों व शक्ति से युक्त कर अथवा ऋषि को सहस्रों प्रकार के ऐश्वर्य देने वाला बना।"

१. सहस्रसाम्--सहस्रं सनुते ददाति= सहस्रों प्रकार के ऐश्वर्य दूसरों को देने वाला (षणु दाने)।

२. सहस्रसाम्—सहस्राणि सम्भजते= सहस्रों प्रकार के ऐश्वर्य का सेवन करने वाला (षण सम्भक्तौ)।

एक और मन्त्र है......२हम ऋषियों से सहस्रों प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करें और अन्न, बल और दीर्घजीवन का लाभ करें।"

---

१ नव्यमायुः प्र सू तिर कृधी सहस्रसामृषिम्। ऋ. १।१०।११।

२ वय सहस्रमृषिभिः सनेम विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्। ऋ १।१८६।८।

सोम और ऋषि

गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित 'आत्मसमर्पण' नामक पुस्तक में हमने सोम पर कुछ विस्तृत विवेचन किया हुआ है। अतः प्रस्तुत लेख में सोम पर सामान्य विचार न कर ऋषि के सम्बन्ध से ही उस पर कुछ नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं। सोम से ऋषित्व की प्राप्ति किस भांति होती है यह विचारणीय विषय है। उस पुस्तक में हम यह दर्शा चुके हैं कि सोम एक आकाशीय द्युलोकस्थ तत्त्व है जो कि सूर्य और चन्द्रमा की किरणों द्वारा पृथिवी पर आता है, वायु व जल द्वारा भी पृथिवी पर बरसता है। और स्वयं तरंगों के रूप में भी पृथिवी की ओर प्रवाहित होता है। मनुष्य इस सोम को सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, औषधि, वनस्पति आदि सब साधनों द्वारा निरन्तर ग्रहण कर रहा है। पर इन सब साधनों द्वारा ग्रहण किया हुआ सोम एक तो प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति व परिस्थिति के अनुसार न्यून व प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। और दूसरे यह मिश्रित होता है। इस का पवमान अर्थात् परम पवित्ररूप नहीं होता। सोम की वेदों में जो इतनी

महिमा गायी गई है कि इतस्ततः उपलब्ध सोम सूक्तों के अतिरिक्त ऋग्वेद का एक पूरा का पूरा नवां मण्डल सोम के लिये दिया गया है। वह महिमा सामान्य सोम की नहीं है, 'पवमान सोम' की है। ऋषित्व को प्रदान करने वाला यह पवमान सोम ही है। इस लिये सोम के सम्बन्ध में सब से बड़ी समस्या यही है कि इसे पवमान अर्थात् परमपवित्र कैसे किया जाये ? इस लेख में हमारा प्रमुख विषय यही होगा।

पवमान सोम ही ऋषित्व का प्रदान करने वाला है—

वेद मन्त्र कहता है "१यह सोम मनुष्य में ऋषित्व का अवबोधक व उद्बोधक है। मनुष्य को ऋषि बनाता है और ऋषित्व की ओर प्रेरणा देने में यह सर्वश्रेष्ठ है।" इसी प्रकार एक और स्थल पर कहा गया है कि "२ऋषि लोग सोम के

१ ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः ॥
ऋ. ९।९६।१८।

२ एह गमन्नृषयः सोमशिता। ऋ.१०।१०८।८

द्वारा तीक्ष्ण होते हैं अर्थात् उन की इन्द्रियां, प्राण, मन, बुद्धि आदि में तीक्ष्णता पैदा होती है।"

ऋ. ६।८६।४ में इस पवमान सोम को 'ऋषिषाण' शब्द से सम्बोधित किया गया है। इस का भाव यह है कि यह सोम ऋषित्व (ऋषि षणु दाने) का प्रदान करने वाला है। और फिर इस सोम के साथ अर्ष-ऋष धातु का बहुत प्रयोग हुआ है। यह धातु ऋषित्व को प्रदान करने वाली गति को सूचित करती है सामान्य गति को नहीं। यह अर्ष गति क्या है यह हम पूर्व में विचार कर चुके हैं।

सोम दिव्य अन्न है --

अग्नि, इन्द्र आदि देवों के समान यह सोम भी वेद का एक देवता है। परन्तु अन्य देवों से इस का भेद यह है कि वे अत्ता हैं तो यह आद्य है। वे अन्नाद हैं तो यह अन्न है। अन्य देव इस सोमरूपी दिव्य अन्न का भक्षण करते हैं और वृद्धिगत होते हैं। उन में सूक्ष्मता, दिव्यता व प्रकाश की वृद्धि होती है। इस सोम रूपी दिव्य अन्न का भक्षण करके मनुष्य

क्या बन सकता है ? यह हम उदाहरणार्थ एक मन्त्र द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

"[1]देवों में ब्रह्मा, क्रान्तदर्शी कवियों में श्रेष्ठ-तम पदविन्यास करने वाला, विप्रों अर्थात् मेधा-वियों में ऋषि, मृगों में महिष अर्थात् महान् सिंह, गृध्रों में श्येन, वनों में स्वधिति अथवा मृगों में सिंह के समान पराक्रमी, गृद्धदृष्टि में श्येन के समान, आन्तरिक वनों में स्वधिति (स्वधिति) अर्थात् आत्मा को धारण करने वाला यह सोम होता है । कब ? जब कि वह पवित्र (छलनी) से बाहिर आकर शब्द करता हुआ संपूर्ण शरीर में गति करता है ।"

[2]यह सोम पवित्र होकर सब प्रकार की मतियों

---

१ ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् । श्येनो गृध्राणां स्वधिति-र्वनाना सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ।
ऋ. ९।९६।६ ।

२ सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः । ऋ. ९।९६ ५

को उत्पन्न करता है । द्युलोक व पृथिवीलोक का उत्पादक है । अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विष्णु का उत्पादक है ।"

जिस प्रकार यह सोम बाह्य ब्रह्माण्ड के सब देवों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्य द्वारा अपने साधनाबल से पवित्र किये जाने पर यह दिव्य व पवित्र सोम पिण्ड में विद्यमान सब देवांशों को उद्‌बुद्ध कर देता है । मनुष्य सब देवों का आगार बन जाता है । एक प्रकार से ब्रह्म हो जाता है । (तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते) यह आथर्वणी उक्ति इसी समय के लिये है । वह पर-ब्रह्म तो नहीं है पर इतना महान् हो जाता है कि विद्वान् उसे ब्रह्म ही कहने लगते हैं । प्रश्न होता है कि कब ब्रह्म कहते हैं ? इस का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्ध में दिया है और वह यह कि "[1]इस मनुष्य में सब देवता इस भांति आ विराजते हैं जिस प्रकार गौयें गोशाला में आ बैठती हैं" यह उक्ति साधारण

---

१ सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ।
अथर्व. ११।८।३०।

जन के लिये नहीं है। क्योंकि साधारण जन में देवताओं का वास नहीं होता। प्रायः साधारण मनुष्य आसुरी शक्तियों के अधीन होता है। जहां आसुरी शक्ति है वहां देव कहां ? इस लिये मनुष्य को अपने अन्दर देवत्व के उद्बोधन के लिये सदा सोम का भक्षण करना चाहिये और उसे निरन्तर पवित्र करते रहना चाहिये। इस से मनुष्य ऋषि बन सकता है। देव बन सकता है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य में सब देव विद्यमान् तो होते हैं, पर आसुरी शक्ति से अभिभूत व प्रसुप्त होते हैं। इन का जागृत होना सोम के ही कारण संभव है। अब प्रश्न यह है कि सोम को पवित्र कैसे किया जाये? वेद में सोम के पवित्रीकरण के जो साधन बताये गये हैं उन में से कुछ साधनों का वर्णन हम यहां करते हैं।

सोम का मार्जन व पवित्रीकरण

ऋषि लोग सोम का मार्जन व पवित्रीकरण करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में अनेकों मन्त्र दिखायें जा सकते हैं। उदाहरणार्थ एक मन्त्र इस प्रकार है :—

१हे पवमान सोम ! बुद्धियों को वेग प्रदान करने वाली तेरी व्याप्तिशील दिव्य धारायें सोम-धारक (धरीमणि) मस्तिष्क में आन्तरिक रस (पय) द्वारा विसर्जित होती हैं । हे ऋषित्व के प्रदान करने वाले सोम ! जो ज्ञानी ऋषि तुझे शुद्ध करते रहते हैं, वे अपने अन्दर सोम को स्थिर व निरन्तर धारायें प्रवाहित करते रहते हैं ।

इस मन्त्र में दो बातें विशेष ध्यान देने की हैं, एक तो ऋषि सोम को शुद्ध करते रहते हैं और दूसरे उस सोम की दिव्य धारायें ऋषियों के मस्तिष्क में स्थिर रूप में प्रवाहित होती रहती हैं ।

सोमात्मक ओज और उसका पवित्रीकरण–

सोम के पवित्रीकरण व पवमान बनाने के अनेकों साधन वेदों में वर्णायें गये हैं । सोम दिव्य

---

१ प्र त आश्विनीः पवमान धीजुवो दिव्या असृग्रन् पयसा धरीमणि । प्रान्तर्ऋषयः स्थाविरीर-सृक्षत ये त्वा मृजन्त्यृषिषाण वेधसः ।

ऋ. ९।८६।४ ।

अन्न है, जो कि पृथ्वी पर आकर वनस्पति, ओषधि व रसात्मक रूप को धारण करता है। मनुष्य जो स्थूल अन्न भक्षण करता है, उस से भी मनुष्य में सोम का प्रवेश होता है। जो अन्न वह भक्षण करता है वह रस रक्त आदि रूपों में परिवर्तित, परिमार्जित व सूक्ष्म रूप होता हुआ ओज नामक अष्टम धातु में परिणत होता है। १मानव शरीर में यह ओज ही सोम है ऐसा हम कह सकते हैं। २दूध में जैसे घी समाया होता है वैसे ही रस रक्तादि शुक्रपर्यन्त सात धातुओं में यह ओजरूपी सोम व्याप्त रहता है। इस दृष्टि से यह ओज सम्पूर्ण शरीरव्यापी है। परन्तु सर्वत्र शरीर में व्याप्त होते हुये भी इस का प्रमुख स्थान ३हृदय कहा जाता है।

---

१ ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीत स्थिरं सरम्। ४ सु.सू १५।२१।
स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्। अ सु ११।३८।

२ यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्थानगतत्वात् तत्तद् धातुवत् मन्यत इति सर्वधातूना स्नेह ओजः क्षीरे घृतमिव। भावप्रकाश।

३ तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः। हृदयं . . च.सू.३०।७।

इस ओजरूपी सोम को हृदयस्थित इन्द्र अर्थात् दिव्य मन(Divine mind)भक्षण करता है। इस सोम के भक्षण से ही इन्द्र, १बल के कार्य करता है। ओज में भी शरीर का २संपूर्णबल सन्निहित है। सोम के सम्बन्ध मे कई विद्वानों का ऐसा भी मन्तव्य है कि सृष्टि मे जितना भी रसात्मक३ तत्त्व है, वह सोम है। इस दृष्टि से शरीरान्तर्गत रस रक्तादि भी सोम ही है। इस पर हमारा विचार यह है कि सोम के सर्वशरीरव्यापी होने के कारण रस रक्तादियों को गौणवृत्ति से सोम मानते हुये भी शरीर में प्रमुख सोम ओज ही है।

---

१ अस्य मदे अहिमिन्द्रो जघान। ऋ. २।१५।१।
सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।

ऋ. २।१५।२।, ऋ ३।६४।४।

२ रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् पर तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमुच्यते। सु.सू. १५।१६।

३ सोमो भूत्वा रसात्मक.। गीता।

यदार्द्रं तत्सौम्यम्।

सोम ओज का भी सार है

यदि हम वेद व अन्य शास्त्रों के आधार पर सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो हम वहां यह संकेत पाते हैं कि सोम ओज से पृथक् है और वह ओज का भी सार है। यदि सोम को ओज का सार न भी मानें तो यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि ओज रस रक्तादियों के समान ही सोमाश्रय है, सोमायतन है। वह सोम जो कि शरीर में सर्वत्र व्याप्त होता हुआ ओज में भी व्याप्त है, ओज का नियन्त्रण व नियमनआदि करता है। वेद में आता है कि[१] "वह पवमान सोम इन्द्र में ओज धारण करता है" इस से यह स्पष्ट है कि पवमान सोम ओज से पृथक् है। और वह ओज को उत्पन्न करने व नियन्त्रित करने वाला है। वह ओज में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार ओज अन्य धातुओं में अभिव्याप्त है। सब [२]धातुओं में व्याप्त ओज जिस प्रकार

---

१ अदधादिन्द्रे पवमान ओजो०। ऋ. ९।९७।४१।

२ सर्वधातुस्थानगतत्वात् तत्तद्धातुवन्मन्यते। चरक

उस-उस धातु से गृहीत होता है उसी प्रकार पृथक् होता हुआ सोम भी तत्तत् वस्तु के आश्रय से तत्तत् वस्तु के नाम से ही गृहीत होता है। इस दृष्टि से शरीर में रस रक्तादि ओज पर्यन्त सब धातु गौणी-वृत्ति से सोम ही हैं। पर तात्त्विक दृष्टि से सोम इनसे पृथक् है और इन सब में ओत-प्रोत है। यह सोम क्योंकि इन्द्रियातीत तत्त्व है, अतः वैद्यक शास्त्र का यह विषय नहीं है। वहां सोम का पृथक् वर्णन व विवेचन न होकर स्वाभीष्ट ओषधीविशेष तथा रस रक्तादि सोमायतनों के वर्णन व विवेचन से ही इस का ग्रहण हुआ है। वेद में दोनों प्रकार से वर्णन हुआ है केवल सोम का और आयतन सहित सोम का। वेद में सोम को एक स्थल पर १इन्द्रिय-रस कहा है तो दूसरे स्थल पर २इन्द्रिय रस से इसे पृथक् माना है। यह हम 'आत्मसमर्पण' नामक पुस्तक में भी दर्शा चुके हैं। इस लिये सोम

१ आत् सोम इन्द्रियो रसः। ऋ. ९।४७।३।

२ सोमो अर्षति दधान इन्द्रियं रसम्।
ऋ. ९।२३।४।

के सत्य स्वरूप का दर्शन दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर हो सकता है। परन्तु सोम के पवित्रीकरण की प्रक्रिया ओज के सदृश रस रक्तादि स्थूल सोमाश्रयों के पवित्रीकरण पर भी निर्भर है। इस लिये दिव्यता के इच्छुक पुरुष का यह प्रयत्न होना चाहिये कि इसे शास्त्रोक्त साधनों द्वारा पूर्ण शुद्ध बनाये और इसकी शुद्धि व वृद्धि साधारण अन्न की शुद्धि व सात्विकता से ही प्रारम्भ होनी चाहिये। जितना शुद्ध सात्विक व ओजो-बहुल अन्न भक्षण किया जायेगा उतना ही ओज रूप सोम शुद्ध होगा और असली सोम भी हमारे अन्दर दिव्य बनेगा।

सोम पवित्र (छलनी)

सोम को परिशुद्ध व परिमार्जित करने वाली कुछ छलनियों (पवित्र) का वेद में वर्णन हुआ है। वहां इन्हें 'पवित्र' कहा गया है। सोम जिस समय जिस आयतन में विद्यमान होता है उसी आयतन से सम्बद्ध छलनी भी होती है अर्थात् सूर्य में सौर्य छलनी अग्नि में आग्नेय, वायु में वायवीय, जल में जलीय और कर्मकाण्ड में ओषधि बनस्पति

निःस्यूत रस को छानने के लिये तदनुकूल छलनी होती है। इसी प्रकार मानव शरीर में भी विभिन्न रसों में ओतप्रोत सोम को छानने व पवित्र करने के लिये अनेकों छलनियां है। अब हम संक्षेप में कुछ छलनियों का दिग्दर्शन कराते है।

आग्नेय पवित्र

अग्नि की छलनी अग्नि की ज्वालाओं में विद्यमान होती है। मन्त्र कहता है "हे अग्नि ! १ जो तेरी ज्वालाओं के अन्दर सोम शोधक छलनी व्याप्त है या तनी हुई है उससे तू हमारे सोम को पवित्र कर।"

अग्नि की ज्वालाओं मे सोम को पवित्र करने की असीम शक्ति होती है। बाह्य जगत् में अग्नि के द्वारा सोम का पवित्रीकरण निरन्तर होता रहता है। इस मन्त्र का समन्वय शरीरान्तर्गत अग्नि में भी सुचारु रूप से हो जाता है। क्योंकि इस

१ यत् ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा ब्रह्म तेन पुनीहि न.। ऋ ९।६७।२३।

अग्नि द्वारा उस सोम को पवित्र करने का विधान है जो कि हमारे अन्दर ब्रह्म रूप को धारण कर चुका है। और यह अग्नि संकल्प रूप अग्नि प्रतीत होती है।

आयवः पवित्र

ऋग्वेद के नवम मण्डल के अनेकों मन्त्रों में यह आता है कि 'आयु' सोम को शुद्ध करते हैं। सायणाचार्य इस आयु पद का अर्थ मनुष्य करता है क्योंकि निरुक्त शास्त्र मे यह आयु पद मनुष्य नामों मे पठित है। इसका भाव यह हुआ कि मनुष्य सोम को शुद्ध करते हैं। यदि हम इस बात का सूक्ष्म विवेचन करें कि मनुष्य को आयु क्यों कहा जाता है तो हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि 'आयु' मनुष्य के आन्तरिक रस हैं। जिनके आन्तरिक स्थान पर मिलने से भक्षित अन्नमें मिश्रण और अमिश्रण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जिससे अन्न के अन्तर्गत सोम विभक्त व शुद्ध होता रहता है। इन रसों को आयु (आ+यु–मिश्रण–अमिश्रणयोः) कहते हैं। क्योंकि ये मनुष्य के अन्तर्गत है, अतः मनुष्य को ही आयु कहने लग गये। वे 'आयवः'

नामक रस जब स्वयं शुद्ध पवित्र होकर इन्द्रियों के रस बनते है, तब ये दिव्य ज्ञान की उत्पत्ति के कारण बनते है। वेद का एक मन्त्र है जिस से यह सिद्ध होता है कि 'आयु' का मनुष्य अर्थ आवश्यक नहीं है। उस का भाव यह है कि "बार[१] बार शुद्ध किये जाते हुए रस रूप सोम (आयवः इन्दवः) दिव्यज्ञान के उत्पत्ति स्थान समुद्र मे अनायास आ पहुंचते हैं।"

उपर्युक्त मन्त्र मे हमने आयु का अर्थ शरीर के विभिन्न रस किया है। निरुक्त में भी 'आयु' के अयन, मनुष्य, ज्योति, और उदक अर्थ किये है। उदक रस ही है। शरीर के विभिन्न स्थानों में अनेकों रस उत्पन्न होते है जो कि अन्न का परिपाक भी करते हैं। मनुष्य की आयुष्य के लिये आयु पद का प्रयोग शारीरिक रसोंके मिश्रण अमिश्रण का परिणाम है। जब तक शरीरमें इन रसोंका निर्माण मिश्रण व पार्थक्य आदि सुचारुरूप से चलता है, तब तक

१ मर्मृजानास आयवो वृथा समुद्रमिन्दव.।
अग्मन्नृतस्य योनिमा। ऋ. ९।६४।१७।

मनुष्य का स्वास्थ्य उत्तम रहता है और आयु भी दीर्घ होती है। और जब इन रसों का निर्माण व कार्य ठीक नहीं होता तब स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहता और आयु भी क्षीण होती है। इस लिये आयु का वास्तविक अर्थ शरीरान्तर्गत रस ही है। आयुष्य तो उस का परिणाम है। उपर्युक्त मन्त्र में आयु पद इन्दु का विशेषण होकर आया है। इन्दु सोम का वाचक है और वहां भी आर्द्रता और स्नेहन का भाव है। पर सोम के पवित्रीकरण मे इन्दु तथा आयु पदों से ज्योति का भाव भी ग्रहण करना चाहिये। अन्नादि रसों का पवित्रीकरण तो स्थूल रूप है। यह शोधन कार्य तो प्राणिमात्र में चालू है। इसलिये हम आयु और इन्दु पदों से उन दिव्य रसों को ग्रहण करते है जो कि ऐन्द्रियिक रस बन कर इन्द्रिय-ज्ञान को दिव्य बनाते हैं। मन्त्र मे कहा है कि ये इन्दु नामक आयु अर्थात् रस ऋत ज्ञान के उत्पत्तिस्थान समुद्र में पहुंचते रहते हे। ये समुद्र मस्तिष्क के ४ द्रव कूप है। जब मनुष्य अन्तर्मुखी अवस्था में अपने को मस्तिष्क में केन्द्रित

करने का प्रयत्न करता है तो ये ऐन्द्रियिक रस इन समुद्रों में जा पहुंचते है ।

इसी प्रकार एक और मन्त्र है जहां कि 'आयु' पद स्पष्ट रूप से आन्तरिक रसों के लिये इंगित हुआ है । वह इस प्रकार है

स मर्मृजान आयुभिः प्रयस्वान् प्रयसे हितः । ऋ. ९।६६।२३ वह (प्रयस्वान्) अन्न वाला सोम (आयुभिः) आन्तरिक रसों द्वारा (मर्मृजानः) पूर्णरूप से शुद्ध हुआ (प्रयसे हितः) प्रीणन के लिये होता है ।

यह सोम पवित्र होकर ऋतात्मक भी होता है । इस ऋतात्मक रूप को धारण कर वह ऋतायुः कहलाता है । ये ऋत नामक आन्तरिक रस भी सोम को पवित्र करने लगते है । इसी लिये कहा है 'शुम्भमाना ऋतायुभिः' अर्थात् ऋत रूप रसों से वे सोम पवित्र होते है । इस ऋत रूप को धारण करने के लिये सोम ऋत के उत्पत्ति स्थान (ऋतस्य योनिं) में पहुंचते है ।

बुद्धि द्वारा सोम का मार्जन व पवित्रीकरण

बुद्धि द्वारा भी सोम का मार्जन व पवित्रीकरण

होता है। इस सम्बन्ध मे अनेकों मन्त्र दिखाये जा सकते हैं।

उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं :—

"१हे सोम ! आत्मरक्षा के इच्छुक विप्रलोग देवत्व के विस्तार के लिये नेतृगुण सम्पन्न तुझ वाजी को बुद्धियों द्वारा शुद्ध करते हैं।"

२"यह सोम मतियों अर्थात् बुद्धियों से पवित्र हुआ है।"

३"शोधन के योग्य इस क्रान्तदर्शी सोम को विप्रलोग बुद्धियों द्वारा शुद्ध करते हैं।"

४"विप्रलोग उस वेगवान् सोम को सूक्ष्मबुद्धि

---

१ तमुत्वा वाजिन नरो धीभिर्विप्रा अवस्यवः मृजन्ति देवतातये ॥ ऋ. ६।१७।७।

२ एष स्य सोमो मतिभिः पुनानः । ऋ. ६।६६।१५।

३ कविं मृजन्ति मर्ज्यं धीभिर्विप्रा अवस्यव. । ऋ. ६।६३।२०।

४ तममृक्षन्त वाजिन . . . . . विप्रासो अण्व्या धिया । ऋ ६।२६।१।

द्वारा शुद्ध करते हैं।"

जिस समय बुद्धि सूक्ष्म व अग्र्या बन जाती है तब उस में आहुति होने वाला सोम भी शुद्ध व पवित्र हो जाता है। परन्तु यह परस्पराश्रित प्रक्रिया है। अर्थात् सोम बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है और बुद्धि सोम को पवित्र करती है। यह पवित्रीकरण उसी समय संभव है कि जब मनुष्य शरीर के अधोभाग से ऊपर उठकर बुद्धि की ओर ऊर्ध्वारोहण करता है और ऊर्ध्वरेतस् बनता है।

दशक्षिप

सायणाचार्य आदि मध्यकालीन भाष्यकार 'दशक्षिपः' का अर्थ दस अंगुलियां करते हैं। सोम ओषधी को पीसने, रस निकालने व उसके परिमार्जन आदि कार्यों में दस अंगुलियां साधन बनती हैं। अतः 'दशक्षिपः' का अर्थ दस अंगुलियां किया जाता है। परन्तु यदि हम शरीरान्तर्गत सोम की दृष्टि से इस पर विचार करें तो दशक्षिपः दस अंगुलियां न होंगी। हमारे विचार में वहां 'दशक्षिपः' से मस्तिष्क में विद्यमान पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों

के केन्द्र लिये जा सकते है। मस्तिष्क की सम्पूर्ण गतिविधि को इन्हीं दस भागों मे विभक्त किया जा सकता है। ये इन्द्रियकेन्द्र (Brain centres) मस्तिष्कान्तर्गत सोम द्वारा अपना २ कार्य करते है। इसी प्रकार इन केन्द्रो से सम्बन्ध रखने वाली आज्ञावाहक व ज्ञानवाहक नाड़ियों को भी दशक्षिपः कहा जा सकता है। 'क्षिपः' का भाव फेकने व प्रक्षेपण का है। अर्थात् केन्द्र की ओर ज्ञान का प्रक्षेपण और केन्द्र से शरीर मे चहुं ओर आज्ञा का प्रक्षेपण होता रहता है। इस प्रकार रसो के इन्द्रियों के कार्य मे व्यापृत होने पर इनमे से ऐन्द्रियिक मल किट्ट नासामल आदि पृथक् होते रहते है और इस प्रकार सोम शुद्ध होता रहता है। जितना विजातीय तत्त्व शरीर से बाहिर कर दिया जाता है उतना ही सोम शुद्ध हो जाता है। इसलिये 'दशक्षिपः' का यह भी भाव लिया जा सकता है कि मलों को बाहिर फेंकने वाली ये दस ऐन्द्रियिक नाड़ियां। 'क्षिपः' अर्थात् प्रक्षेपण का यह भी भाव है कि इन्द्रियां मस्तिष्क केन्द्र से

जब बाह्य जगत् में विषयों की ग्रोर जाती हैं तो सिर में विद्यमान सोम को बाह्य गोलकों की ग्रोर फेंकती हैं। क्योंकि ऐन्द्रियिक शक्तियां,ऐन्द्रियिकद्रव अर्थात् सोम के माध्यम से ही गोलकों में जाती हैं। इस सम्बन्ध में एक मन्त्र है जो कि इस प्रकार है :—

ग्रभिक्षिपः समग्मत मर्जयन्तीरिषस्पतिम् ।
पृष्ठा गृभ्णत वाजिनः ।। ऋ. ६।१४।७ ।

(क्षिपः) सोम को चहुं ग्रोर फेंकने वाली ऐन्द्रियिक नाड़ियां (इषस्पतिं) ग्रन्नों के स्वामी सोम को (मर्जयन्तीः) शुद्ध करती हुई (ग्रभिसमग्मत) सोम से जा मिलती हैं ग्रौर (वाजिनः) उस वेगवान् सोम के (पृष्ठाः) पृष्ठों को (गृभ्णत) जा पकड़ती हैं।

इस मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि इन्द्रियां सोम से मिलती हैं ग्रौर उस के पृष्ठ पर ग्रारूढ़ होकर कार्य में जुटती हैं। इन्द्रियों का सोम से मिलना सोम की शुद्धि का एक प्रकार है। इन्द्रियां ज्योति हैं, ग्रग्नि रूप हैं, सोम द्रव है। ग्रग्नि द्रव से मिलकर उस के मल को जला देती है। इस सोमरस

से इन्द्रियों का स्वल्पकाल के लिये ही सम्बन्ध होता है, इस से वे गरम भी नहीं होतीं । यदि सम्बन्ध-संयम व त्राटक की प्रक्रिया द्वारा अधिक समय तक इन्द्रिय रूपी अग्नि का सोम द्रव से सम्बन्ध हो तो उस का सूक्ष्म से सूक्ष्म मल भी विनष्ट हो सकता है ।

विवस्वतः नप्तीः–

इन 'दशक्षिपः' इन्द्रियों को एक मन्त्र (ऋ. ६।१४।५) में विवस्वान् का 'नप्ती' अर्थात् पौत्र कहा गया है । विवस्वान् ज्ञान सूर्य अर्थात् बुद्धि है और इन्द्रियां उस बुद्धि के पौत्र हे । इन्हे पौत्र इसलिये कहा गया है कि बुद्धि और इन्द्रियों के मध्य में मन आता है । वास्तव में नप्ती का अर्थ है 'न गिरने देने वाले । प्रश्न है कि किस को न गिरने देने वाले । उत्तर है कि बुद्धि (विवस्वान्) को न गिरने देने वाले । ये इन्द्रियां ही है जो कि बुद्धि के लिये संसारमें चहुं ओर से ज्ञान को संग्रह करके लाती है । इस से बुद्धि सूर्य (विवस्वान्) की वृद्धि होती है और पतन नहीं होता ।

दश योषा

इन इन्द्रियों को 'दशयोषा' भी कहा जाता है ।

सोम इन का पति है और ये पत्नियां हैं। 'योषा' शब्द भी 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से बनता है। इन में सोम से मिलना और पृथक् होना यह प्रक्रिया चलती रहती है। इन्द्रियों का जब बाह्य जगत् से सम्बन्ध होता है तब केन्द्रग सोम से इन का सम्पर्क होता है और जब ये कार्यविरत होती हैं तब ये सोम से पृथक् हो जाती हैं। 'दशयोषा' के सम्बन्ध में एक मन्त्र है जिस का भाव निम्न प्रकार है 'हे सोम ! तेरी ओर दशयोषा इन्द्रियां आती हैं और तेरा स्तवन करती हैं। १तुझ से सम्पर्क करती हैं। जिस प्रकार कन्यायें जार का स्तवन करती हैं और उस से मिलती हैं। हे सोम ! इस प्रकार तू शक्ति देने के लिये शुद्ध किया जाता है।"

एक मन्त्र में आता है कि सूर्य की दुहिता सोम को पवित्र करती है। मन्त्र इस प्रकार है—

पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता ।
वारेण शश्वता तना ।। ऋ. ९।१।६ ।

---

१ अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत ।
मृज्यसे सोम सातये । ऋ ९ ५६।३ ।

हे सोम ! तेरे परिस्रुत रूप को सूर्य की दुहिता निरन्तर तने हुए वार (वारेण शश्वता तना) से पवित्र करती है ।

उपर्युक्त मन्त्र में निम्न बातें विचारणीय हैं ।

१. सूर्य की दुहिता ।

२. परिस्रुत सोम ।

३. वार

४. शश्वता तना ।

अब हम क्रमशः इन पर विचार करते हैं ।

सूर्य की दुहिता

इस सौर जगत् में सूर्य को रश्मियां उस की दुहिता हे जो कि पृथिवी पर दूर जाकर वहां के सोम को पवित्र करती हे । इसी प्रकार पिण्ड में मनुष्य के मस्तिष्क में विद्यमान बुद्धि सूर्य है । सप्तेन्द्रिय रूपी सप्तरश्मि वाला यह बुद्धि सूर्य कहा जाता है । मस्तिष्क के केन्द्र में से जो रश्मि इन्द्रिय गोलकों में जाती है वह बुद्धि सूर्य की दुहिता है । दुहिता के दो भाव हो सकते हैं । एक तो 'दूरेहिता' मस्तिष्क

सूर्य से जो दूर है। दूसरा भाव यह है कि मस्तिष्क से जो सोम का दोहन करती है।

परिस्रुत सोम

परिस्रुत (परि स्रुगतौ) सोम वह है जो इन्द्रियकेन्द्रों से गोलकों तक इन्द्रिय-ज्योति के जाने का माध्यम बनता है। इन्द्रिय-ज्योति के साथ यह सोम भी जाता है इस लिये इसे परिस्रुत कहते हैं।

वार

वार (वारयति) वह ऐन्द्रियिक नाड़ी है जिस में से होकर इन्द्रिय ज्योति गोलकों तक पहुंचती है। यह नाड़ी इन्द्रिय-ज्योति को इधर-उधर बिखरने से रोकती है। इसे 'वाल' भी कहते हैं।

शश्वता तना–निरन्तर तना हुआ होना।

अब मन्त्र का भाव यह हुआ कि सूर्य की दुहिता अर्थात् केन्द्र से गोलकों में आती हुई इन्द्रिय-रश्मि सोम को पवित्र करती है। यह तभी संभव है कि जब कि इन्द्रिय में तनाव रहे। योगदर्शन की

परिभाषा में यह अवस्था सम्बन्ध-संयम की है। सम्बन्ध संयम में इन्द्रिय का विषय के साथ देर तक निरन्तर सम्बन्ध रहता है और वह इन्द्रिय तनाव की अवस्था में रहती है। इस से मनुष्य में ज्ञान व चेतना का हेतु जो सोम है वह पवित्र होता है। ब्राह्मण में आता है कि "पुनाति ते परिस्रुतमिति यजुषा पुनाति' अर्थात् इस परिस्रुत सोम को 'यजु' अर्थात् सम्बन्ध से, योग से पवित्र करता है। प्रश्न है कि किस से सम्बन्ध व योग करता है? इस का मन्त्र में यह उत्तर दिया है कि सूर्य की दुहिता अर्थात् गोलक में विद्यमान इन्द्रिय ज्योति से सम्बन्ध करता है, और निरन्तर सम्बन्ध करता है जिस से कि तनाव की अवस्था पैदा हो जाती है। योगदर्शन की परिभाषा में यही संयम की अवस्था है।

इस प्रकार दिव्यज्ञान और दिव्यशक्ति की प्राप्ति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि सोम को पवित्र शुद्ध व परिमार्जित किया जाये। उस के कुछ साधन हमने ऊपर प्रदर्शित किये। और भी कई साधन हो सकते हैं, पर हमने उदाहरणार्थ संक्षेप में ये प्रदर्शित किये हैं।

अर्ष धातु

इस सम्बन्ध मे एक बात और विचारणीय है और वह यह कि मन्त्रों में सोम को पवित्र करने के लिये अर्षति (ऋष गतौ) धातु का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। यह गति सामान्य गति नहीं है। इस में ऋषित्व का भी भाव है। इस दृष्टि से 'हरिः पवित्रो अर्षति' का भाव यह होगा कि सोम पवित्र (छलनी) में पहुंचकर ऋषित्व के गुण वाला हो जाता है, उस की सम्पूर्ण गति ऋषि कोटि की हो जाती है। उस समय सोम दिव्यदृष्टि व दिव्यशक्ति सम्पन्न बन जाता है।

सोम के अन्दर महान् शक्तियां है, जो व्यक्ति सोम का पान करता है, वह दिव्यज्ञान व दिव्यशक्ति से सम्पन्न होता है। यह सोम पवमान बनकर मनुष्य में क्या कार्य करता है, यह हम उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र द्वारा प्रदर्शित करते है।

[1]हे सोम ! हमारे मे जो अज्ञान व अन्धकार

---

१ तमांसि सोम योध्या। तानि पुनान जंघनः ।।
ऋ. ९।७।७।

है उन से तू युद्ध कर और पवित्र बनकर तू उन्हें विनष्ट कर।"

अब प्रश्न यह है कि वह अन्धकार को किस प्रकार विनष्ट करता है ? इस का उपाय वेद ने यह बताया कि वह सोम शरीरान्तर्गत सब घटकों व इन्द्रियों को गतिमय कर देता है, जिस से किसी भी प्रकार का मल अवशिष्ट नहीं रहता।

--०--

मरुत् और ऋषि

अग्नि, इन्द्र और सोम आदि वैदिक देवताओं की तरह यह मरुत् भी बहुत व्यापक देवता है। शास्त्रों में इसके भी अनेकार्थ दिये हैं। इन पर यहां विस्तृत विचार तो नहीं हो सकता, अतः संक्षिप्त टिप्पणी ही यहां प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि हम 'वेदों के सूक्ष्म धरातल' में दर्शा चुके हैं कि अग्नि, इन्द्र सोम आदि सूक्ष्म तत्त्व हैं जो कि अनेकों आयतनों में ओतप्रोत हैं, उसी प्रकार यह मरुत् भी है। मरुत् शब्द के अनेकार्थ ब्राह्मणग्रन्थों, भाष्यों तथा यास्काचार्य आदि के निरुक्त ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। प्रश्न यह है कि मरुत् के इन सब अर्थों में केन्द्रीय तत्त्व क्या है? अथवा वह सूक्ष्मतत्त्व, सूक्ष्मगुण व सूक्ष्म कार्य क्या है, जो कि मरुत् नाम से कहे जाने वाले अनेकों आयतनों में ओतप्रोत है। हमारे विचार में मरुत् का स्वाभाविक व्युत्पत्तिजन्य अर्थ मर+उत्=मरुत् (मृङ् प्राण त्यागे) इसका निर्णायक है। अर्थात् मरुत् वह शक्ति है जो प्राण-रहित (मर्) पदार्थ को ऊपर उठाती है। उस

शक्ति को हम सूक्ष्मप्राणतत्त्व व प्राण-तन्मात्रा की सूक्ष्म सृष्टि कह सकते हैं। यह प्राणशक्ति अनेकों आयतनों में ओतप्रोत है। वायु जल आदि पांच-भौतिक तत्त्वों में भी यह प्रविष्ट है। परन्तु इनका प्रमुख आयतन व आश्रय वायु है। मरुत् स्वयं वायु नहीं है पर वायु में प्रविष्ट है। अतएव वेद में आता है "उदीरयन्त वायुभिः" "यामं यान्ति वायुभिः" ये मरुत् वायुओं के द्वारा अन्न को ऊपर पहुंचाते हैं, वायुओं के साथ गति करते हैं। इसी प्रकार मरुत् रश्मि नहीं है, पर रश्मियों में प्रविष्ट हैं। मन्त्र कहता है कि "सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे" ऋ. ८।७।७ अर्थात् सूर्य के गमन के लिये मरुत् अपने ओज से रश्मिमय मार्ग बनाते हैं। मरुत् मनुष्यों से भी पृथक् हैं, मन्त्र कहता है। "प्र नू स मर्तः स शवसा जनां अति तस्थौ व ऊती यमावत" ऋ. १।६४।१३।

हे मरुतो! अपने रक्षण साधन से तुम जिस मनुष्य की रक्षा करते हो वह बल में अन्य मनुष्यों को अतिक्रम कर जाता है। मरुतों की कृपा से

बलशाली बन जाना इस तथ्य को स्पष्ट कर रहा है कि बलवान् पुरुष व शूरबीर योद्धा से मरुत् पृथक् है। कहने का तात्पर्य यह है कि मरुत् सूक्ष्मप्राण की शक्तियां है जो कि अनेकों स्थूल आयतनों में ओतप्रोत हैं। इनका मरुत् नाम उस समय होता है जब ये निष्प्राणतत्त्व को ऊपर उठाते हैं। यथा– बीज के पृथिवी में जाते ही वह प्राण शक्ति कार्य करना शुरू करती है जिससे कि भूमि में से निष्प्राण तत्त्व अंकुररूप मे ऊपर उठना प्रारम्भ होता है और एक विशालकाय वृक्ष के रूप मे ऊपर खड़ा रह कर लहलहाता है। मरुतों में वह शक्ति है कि यदि बीज पर्वत के मध्य मे भी गिर गया है तो उसे भी वे तोड़ देते है और पर्वत उन्हें रास्ता देते हे (नि पर्वता अहासत नि यद्यामाय वो गिरिः, प्रवेपयन्ति पर्वतान्, पर्वतच्युतः) इस प्रकार सभी क्षेत्रों में मरुत् नामक सूक्ष्म प्राणशक्तियों के कार्य का स्वरूप देखा जा सकता है। जिस प्रकार सोम एक सूक्ष्म व व्यापक तत्त्व है, जिस पदार्थ में उसका अत्यधिक प्रकटीकरण होता है, वह भी सोम कहलाता है। इसी कारण चन्द्रमा, औषधी विशेष आदि

सोम व सोमलता नाम से प्रसिद्ध है। इसी भांति मरुतों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। मनुष्यों में मरुत् नामक योद्धाओं में इसका अत्यधिक प्रकाश होता है। इसलिये योद्धाओं को भी वेद में मरुत् नाम से कहा गया है। पृथिवी के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म लोकों में भी इस मरुत् शक्ति का सर्वातिशायी प्रकाश प्रकटीकरण हो सकता है जो मरुत् नाम को अधिक चरितार्थ करते हैं। इसका निर्णय सूक्ष्म-दृष्टि प्राप्त होने पर ही सम्भव है। वेद में आता है कि सूक्ष्म दृष्टि अर्थात् ऋषित्व प्राप्ति में मरुतों की सहायता होती है। एक मन्त्र है "ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यवे इषुं न सृजत द्विषम्।"

ऋ. १।३९।१०

हे मरुतो ! प्राण वायुओ ! ऋषि द्वेषी क्रोधपर तुम अपने बाण छोड़ो, जिस प्रकार मानव शत्रु पर बाण छोड़े जाते हैं।

क्रोध ऋषित्व का विघातक है। इस तथ्य को प्राचीन समय में ऋषि लोग भली भांति जानते थे। रामायण में आता है कि विश्वामित्र ऋषि ने क्रोध में भरकर रम्भा नामक अप्सरा को शाप

दिया। इससे उसका तप भंग हो गया। वहां आता है—

कोपेन महातेजास्तपोऽपहरणे कृते।

बाल काण्ड सर्ग ६५।श्लोक १६।

न च क्रोधं करिष्यामि। १७ श्लोक

इसी प्रकार दशरथ की राजसभा में यज्ञ रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण की याचना के अवसर पर उसने ये उद्‌गार प्रकट किये हैं —

न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव।

सर्ग १६।७

अतः ऋषित्व प्राप्ति में क्रोध एक विघातक तत्त्व है। गीता की दृष्टि में निर्मल व स्वच्छ ज्ञान के ऊपर राजसी आवरण है। इस लिये ऋषित्व के अभिलाषी पुरुषों को क्रोध का सदा परिहार करते रहना चाहियें।

इसी प्रकार मरुतों की महिमा के सम्बन्ध में एक और मन्त्र है।

न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न

व्यथते न रिष्यति।

नास्य राय उपदस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ।। ऋ. ५।५४।७ ।

हे मरुतो ! जिस ऋषि व राजा को तुम रक्षा करते हो, वह न जीता जाता है, न मारा जाता है, न क्षीण होता है न पीड़ित होता है, न हिंसित होता है, और न इसके ऐश्वर्य क्षीण होते हैं और न रक्षाएं विनष्ट होती हैं। आगे आता है कि "यूयमृषिमवथ सामविप्रम्"

ऋ. ५।५४।१४ ।

हे मरुतो ! तुम सामों में मेधावी ऋषि की रक्षा करते हो । इस मन्त्र भाग से ज्ञात होता है कि सामगान में प्राणवायु की उत्कृष्टता का होना आवश्यक है ।

इस प्रकार अति संक्षेप में हमने ऋषि और मरुत् के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त किये ।

—:o:—

उषा और ऋषि

उषा के साथ सब ऋषियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रायः विद्वान् उषा से भौतिक उषा का ही ग्रहण करते हैं। परन्तु वेदों में उषा केवल भौतिक उषा ही नहीं है, वह आध्यात्मिक क्षेत्र की दिव्य उषा भी है। और कई स्थलों पर तो दिव्य उषा में ही उसकी सार्थकता होती है। स्वामी दयानन्द ने उषा से भौतिक उषा के अतिरिक्त उपमालंकार मानकर अन्य अर्थों की ओर भी संकेत किया है। श्री अरविन्द ने तो वेदों में दिव्य उषा व आन्तरिक उषा को ही प्रमुख माना है। मन्त्र में आता है कि ऋषि लोग उस उषा की स्तुति करते हैं (ऋषि ष्टुता)। भौतिक उषा उस आन्तरिक उषा की उत्पत्ति में उसी अवस्था में सहायक हो सकती है जब कि उषा काल में स्तुति, ध्यान व जप आदि किया जाता है। अब हम मन्त्र दिखाते हैं—

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम्।

ऋषिष्टुता जरयन्ती मघोन्युषा उच्छति वह्निभि गृणाना । ऋ. ७।७५।५ ।

(वाजिनीवती) अत्यन्त वेग प्रदान करने वाली या अन्न प्रदान करने वाली (सूर्यस्य योषा) ज्ञानसूर्य से सम्पर्क कराने वाली (चित्रामघा) अद्भुत ऐश्वर्य-वाली (वसूनां राय ईशे) वसुओं में विद्यमान ऐश्वर्य की स्वामिनी है । (ऋषिष्टुता) ऋषियों द्वारा स्तुति की गई तथा (वह्निभिः गृणाना) वहन करने वाल भक्तों से स्तुत व प्रकाशित वह (मघोनी उषा) ऐश्वर्यमयी दिव्य उषा (जरयन्ती) तम के आवरण को जलाती हुई (उच्छति) खिलती है ।

उपर्युक्त मन्त्र से सम्बद्ध उषा सम्बन्धी सूक्तों तथा अन्य सूक्तों पर यदि विचार किया जाये तो हमें यह स्पष्ट पता चलेगा कि ये उषायें सामान्य भौतिक उषायें नहीं हैं । इन उषाओं का आवि-ष्करण अर्थात् प्रकटीकरण ऋत से होता है (ऋते-नाविष्कृण्वाना) । अतः यह उषा मनुष्य के अन्दर होने वाली है, इसीलिये इसे 'मानुषि' नाम से सम्बोधित किया गया है । (देवि मर्तेषु मानुषि ऋ. ७।७५।२) इस उषा की (भानु) प्रकाश किरणें

अमृत (अमृतासः) हैं कभी नष्ट नहीं होतीं। इस दिव्य उषा के सम्बन्ध में एक मन्त्र में आता है जिसमें यह कहा गया है कि उन पूर्व ऋषियों ने उषा रूपी गूढ़ज्योति को ढूंढ निकाला। वह मन्त्र इस प्रकार है :—

त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः। गूढं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्य-मन्त्रा अजनयन्नुषासम्॥ ऋ. ७।७६।४।

ऋत से युक्त वे पूर्व्य कवि निश्चय से देवों के साथ आनन्द लूटने वाले थे। उन पितरों ने उषा रूपी वह गूढ़ ज्योति ढूंढ़ निकाली और सत्य मन्त्रों वाले उन्होंने इस दिव्य उषा को पैदा किया।

इस उपर्युक्त मन्त्र में यह स्पष्ट लिखा है कि ये उषायें पैदा की जाती हैं, और इन्हें पैदा करने वाले सत्यमन्त्रों वाले पूर्व्य कवि हैं। और इस गूढ़ व प्रच्छन्नज्योति को इन्होंने ढूंढ़ निकाला है। इस प्रकार के उद्गार सामान्य भौतिक उषा के लिये नहीं हो सकते। यह दिव्य आन्तरिक उषा ही है जो कि ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने की पूर्व आभा है। इसी प्रकार इस दिव्य उषा के सम्बन्ध में योगी

श्रीअरविन्द ने अपने 'वेद रहस्य' में बहुत विस्तार से लिखा है।

उषाओं के प्रकट होने पर मनुष्य में परिवर्तन

या गोमतीरुषसः सर्ववीरा व्युच्छन्ति दाशुषे मर्त्याय। वायोरिव सूनृतानामुदर्के ता अश्वदा अश्नवत् सोमसुत्वा ॥ ऋ. १।११३।१८।

(याः गोमतीः) जो दिव्य किरणों वाली (उषसः) उषाएं (सर्ववीराः) सब प्रकार के वीर भावों से युक्त होकर (दाशुषे मर्त्याय) दाश्वान् मनुष्य के लिये (व्युच्छन्ति) विकसित होती हैं अर्थात् खिलती हैं। (सूनृतानामुदर्के) उत्तम श्रेष्ठ वाणियों के उद् गम में (वायोः इव) प्राण वायु की तरह होती है। (अश्वदाः) व्यापक दृष्टि देने वाली (ताः) उन उषाओं को (सोमसुत्वा) सोम का सवन करने वाला व्यक्ति ही (अश्नवत्) प्राप्त करता है।

जिन मनुष्यों में ये दिव्य उषाएं खिलती हैं, एक परिवर्तन तो उनमें यह होता है कि वे वीर व साहसी बन जाते हैं। वे निर्भय व निडर हो जाते हैं।

और फिर एक ही क्षेत्र में वे वीर नहीं बनते अपितु सभी क्षेत्रों में वे वीर बन जाते हैं। इसलिये इन उषाओं को 'सर्ववीराः' कहा गया है। और दूसरा परिवर्तन वाणी में होता है। मनुष्य मे भद्र और अभद्र की दृष्टि से दो प्रकार की वाणियां होती है। भद्र वाणी को 'सूनृता' भी कहते हैं।

दूसरी अभद्रवाणी भी कई नामों से कही जाती है। सूनृता वाणी का अर्क उत्कृष्ट होता है, मनुष्य को उन्नत करने वाला होता है। परन्तु अभद्रवाणी का अधः पतन व विनाश करने वाला होता है। अर्क मानसिक अग्नि है, जो कि आंख, नाक, कान, मुंह आदि द्वारा बाहिर निकलती है। इस अर्करूपी अग्नि का उत्कृष्ट होना (उदर्क= उत्+अर्क) उन्नत होना दो साधनों से हो सकता है। एक प्राण वायु द्वारा और दूसरा दिव्य उषाओं द्वारा। जिस मनुष्य की प्राणवायु श्रेष्ठ है, बलवती है उसकी वाणी में भी तेज, व ओज होता है। इस प्रकार वाणी का अर्क उत्कृष्ट होता है। दूसरा वाणी के अर्क का उत्कृष्ट होना दिव्य उषाओं

पर भी निर्भर है। जिन मनुष्यों में दिव्य उषा का प्रकाश फैल जाता है उनका आन्तरिक अन्धकार विमष्ट हो जाता है। उनकी वाणियां सूनृता अर्थात् श्रेष्ठ बन जाती हैं। और क्योंकि ये उषायें "अश्वदाः" व्यापक दृष्टि को देने वाली होती हैं। इसलिये वे सत्यासत्य का निर्णय आसानी से कर सकती हैं। ऐसी दिव्य उषाओं को प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्दर जागृत करना चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि कौन मनुष्य इन उषाओं को जागृत कर सकता है? मन्त्र कहता है कि "सोमसुत्वा दाश्वान्" अपने अन्दर सोम का सवन करने वाला तथा आत्म-समर्पण करने वाला पुरुष ही उन्हें जागृत कर सकता है।

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन् योषेव भद्रा
निरिणीते अप्सः । व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि
पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः ।।

ऋ. ५।८०।६।

(एषा) यह (प्रतीची) सामने आती हुई (दिवोदुहिता) देवलोक की दुहिता उषा (नॄन्) मनुष्यों के सामने (भद्रा योषेव) भद्र स्त्री के समान

(अप्सः निरिणीते) गुह्य रूपों को प्रकाशित करती है। और (दाशुषे) दाश्वान् पुरुष के लिये (वार्याणि) वरणीय पदार्थों को (व्यूर्ण्वती) खोलती हुई (ज्योतिः) ज्योति रूप तथा (युवतिः) नवयौवन वाली उषा (पूर्वथा) पहले के समान मनुष्य में (पुनः अकः) नव ज्योति तथा नवयौवन पैदा कर देती है।

जिस प्रकार एक भद्र महिला अपने पति के सामने अपने रूप को दिखाती है उसी प्रकार यह दिव्य उषा भी दाश्वान् को अपना रूप दिखाती है। और फिर दाश्वान् के सामने उन वरणीय पदार्थों व दृश्यों पर पड़े हुए जो आवरण के पट हैं उन्हें खोलती है। और तीसरा काम इस उषा का यह है कि जिस मनुष्य में यह दिव्य उषा प्रादुर्भूत हो जाती है उसके अन्दर नई ज्योति व नवयौवन का पुनः सञ्चार हो जाता है। साधारण भौतिक उषा के अन्दर यह गुण विशेष रूपमें नहीं है कि वह मनुष्य को फिर युवा बना दे। परन्तु दिव्य उषा में नवयौवन प्रदान करने वाला गुण विशेष रूप में होता है।

उत् ते वयश्चिद् वसतेरपप्तन् नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ । अमा सते वहसि भूरिवाममुषो देवि दाशुषे मर्त्याय ॥

ऋ. १।१२४।१२ ।

हे उषः देवि ! (ते व्युष्टौ) तेरे खिलने पर (वयश्चित्) प्राणिक शक्तियां भी (वसतेः) अपने निवास स्थान से (उत् अपप्तन्) ऊपर को गति करती हैं। (च) और (ये पितुभाजः) जो अन्नार्थी (नरः) शरीर का नेतृत्व करने वाली इन्द्रियां हैं, ये भी ऊपर को निकल पड़ती हैं। (अमा सते) अपने हृदय रूपी घर में बैठे हुए (दाशुषे मर्त्याय) दाश्वान् मनुष्य के लिये हे उषो देवि ! तू (भूरि वामं वहसि) बहुत से वाञ्छनीय ऐश्वर्य देती है।

इस मन्त्र में 'वयः' और 'नरः' शब्द विशेष विचारणीय हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में ये दोनों शरीर की ही कोई शक्तियां होनी चाहियें। ऐ. ब्रा. १।२८ में "प्राणो वै वयः" प्राण को वय कहा गया है। मनुष्य में जब दिव्य उषा का प्रादुर्भाव होता है तो मनुष्य में अनेकों शक्तियां प्रादुर्भूत होती हैं।

ये शक्तियां शरीर में प्राण तत्त्व से सम्बन्ध रखने से 'वयः' नाम से कही जा सकती हैं। मन्त्र में कहा गया है कि ये शक्तियां पक्षी के समान हैं। जब तक मनुष्य अध्यात्म मार्ग में चलकर दिव्य उषा का प्रकाश नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसमें अन्धकार बना रहता है और ये शक्तियां मनुष्य में सुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं, परन्तु ज्यों ही दिव्य उषा का प्रकाश फैलता है त्यों ही ये शक्तियां अपने २ स्थानों से उठ खड़ी होती हैं। इसी प्रकार 'नर' ऐन्द्रियिक शक्तियां हैं जो कि शरीर का नेतृत्व करती हैं। ये शक्तियां बाह्य जगत् में अन्न के लिये अपने २ विषयों में विचरती हैं। दिव्य उषा के खिलने पर इनके विचरण का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है। परन्तु दाश्वान् को उषा का यह ऐश्वर्य तब मिलता है जब कि वह अपने हृदय रूपी घर में विद्यमान होता है।

श्रवो वाजमिषमूर्जं वहन्तीर्नि दाशुष उषसो मर्त्याय। मघोनी वीरवत् पत्यमाना अवो धात विधते रत्नमद्य ॥ ऋग् ६।६५।३

हे (उषसः) दिव्य उषाओ (दाशुषे मर्त्याय) दाश्वान् मनुष्य के लिये तुम (श्रवः) कीर्ति

(वाजम्) वेग (इषम्) अन्न तथा (ऊर्जम्) ऊर्ज को (वहन्तीः) वहन करती हुई (मघोनीः) ऐश्वर्य सम्पन्न तुम (वीरवत्) शूरवीर के समान (अवः पत्यमानाः) नीचे की ओर को आती हुई (अद्य) आज (विधते) परिचर्या करने वाले को (रत्नं धात) रत्न धारण कराओ।

जिस मनुष्य में दिव्य उषा का उदय हो जाता है। उसके अन्दर निम्न विशेषतायें पैदा हो जाती हैं। एक तो उसकी बात सब सुनना चाहते हैं (श्रवः) और जो वह कहता है उसकी चर्चा सब जगह फैल जाती है। दूसरे उसके अन्दर वेग (वाज) पैदा हो जाता है। शरीर मन, बुद्धि आदि सभी अवयवों में स्फूर्ति का सञ्चार हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह मनुष्य आधिभौतिक व आध्यात्मिक सभी प्रकार के अन्न प्राप्त करता है। और इस अन्न के सेवन से उसमें 'ऊर्ज' बल व प्राण-शक्ति का उद्गम होता है। ये चारों विशेषताएं दाश्वान् पुरुष को मिलती हैं। यह उषा दाश्वान् के पास इस अनन्त ऐश्वर्य को लेकर ऊपर से नीचे की

ओर को आती है। अर्थात् भक्त के अन्दर आ उतरती है।

इदा हि वो विधते रत्नमस्तीदा वीराय दाशुष उषासः। इदा विप्राय जरते यदुक्था नि ष्म मावते वहथा पुराचित्। ऋ. ६।६५।४।

हे उषाओ! (इदा) अब (हि) निश्चय से (वः विधते) तुम्हारी परिचर्या करने वाले के लिये (रत्नमस्ति) ऐश्वर्य है। और (इदा) अब (वीराय दाशुषे) वीर दाश्वान् के लिये तुम स्वयं विद्यमान हो। (इदा) अब (मावते) मुझ अहंकार का त्याग करने वाले तथा (जरते विप्राय) स्तुति करने वाले विप्र के लिये (यत् उक्था) जो उत्थान के साधन हैं वे (पुरा चित्) पहले भी तुम (वहथः) प्राप्त कराते रहे हो।

इस मन्त्र में दाश्वान् के ही भिन्न २ रूप बताये हैं। कभी वह निरन्तर उषाओं का सेवन करता है कभी विप्र नाम से कहा जाता है कभी स्तोता बनता है और कभी अहंकार का त्याग करने वाला होता है। ये सब दाश्वान् की ही भिन्न २ अवस्थायें हैं। परन्तु यहां यह बात ध्यान देने की है कि दाश्वान् को

यहां पर वीर कहा गया है। शुरु २ में मनुष्य से समर्पण बहुत ही थोड़ा हो पाता है। शनैः २ वह समर्पण में वृद्धि करता जाता है। परन्तु जब वह पूर्ण समर्पण करने में समर्थ हो जाता है तब उसे वीर दाश्वान् कह सकते हैं।

इस प्रकार मनुष्य में उषाओं के प्रकटीकरण पर क्या २ परिवर्तन होते हैं उनका कुछ संक्षिप्त दिग्दर्शन हमने निम्न मन्त्रों द्वारा दर्शाया है। परन्तु यह आन्तरिक दिव्य उषा सदा नहीं रहती इसका लोप भी हो जाता है तब उसकी क्या अवस्था होती है यह निम्न मन्त्र में दर्शाया गया है।

उषा का लोप

यस्त्वा पृच्छादीजानः कुहया कुहया कृते।
एषो अपश्रितो वलो गोमतीभवतिष्ठति॥

ऋ. ८।२४।३०।

हे दिव्य उषा! (यत्) जब (कुहया कुहयाकृते) कहां चली गई? कहां चली गई? ऐसी अवस्था तेरे द्वारा बना दिये जाने पर वह (ईजानः) आध्यात्मिक यज्ञ करने वाला व्यक्ति (त्वा पृच्छात्)

तुझ से प्रार्थना कर रहा है कि (एषः) यह (अपश्रितः वलः) आश्रय से भगाया हुआ वलासुर फिर (गोमतीं अवतिष्ठति) इन्द्रियों व दिव्य किरणों के प्रवाह में आ बैठा है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य की क्या २ अवस्थायें हो सकती हैं? उनमें से एक अवस्था का यहां चित्र खींचा गया है। प्रभु के भक्त को जब दिव्य उषा का दर्शन हो जाता है, आध्यात्मिक ज्योति की कुछ हलकी सी झलक दिखाई दे जाती है, तब वह वलासुर जिसने गौवों अर्थात् दिव्य किरणों को घेरा हुआ था छिन्न-भिन्न हो जाता है। परन्तु उन्नति की ओर पग बढ़ाने वाले मनुष्य की सदा यही अवस्था नहीं बनी रहती, जब तक वह उन्नति की किसी विशेष सीमा तक नहीं पहुंच जाता, तब तक उसके उत्थान व पतन दोनों ही होते रहते हैं। जो मनुष्य उन्नति की उस सीमा तक अभी नहीं पहुंच पाया है, जहां से कि उसका पतन न हो—उन्नति और पतन जिसके दोनों होते रहते हैं—ऐसे मनुष्य का यहां चित्र खींचा गया है। आध्यात्मिक ज्योति की कुछ हलकी सी किरण दिखाई दी,

पाप-वासना रूपी बल कुछ क्षीण हुआ, परन्तु कालान्तर में जब मनुष्य उस सीमा पर न ठहर सका, कुछ नीचे हुआ तो वलासुर ने उसे फिर आक्रान्त कर लिया। दिव्य किरणे उसने फिर आ घेरीं। इस अवस्था मे मनुष्य दिव्य-उषा से प्रार्थना कर रहा है कि हे दिव्य उषा! तुम कहां चली गई? तुम कहां चली गई? यह वलासुर तो फिर दिव्य किरणों की धार (गोमती) में आ बैठा है।

मेष-वाहन (मेध्यातिथि)



ओ३म् इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम
मेषोभूतोऽभियन्नयः । ऋ. ८।२।४० ।

(अद्रिवः) हे वज्रिन् इन्द्र ! (काण्वं मेध्यातिथि) कण्व के पुत्र मेध्यातिथि को (मेषः भूतः) उसका मेष (मेढा) रूप वाहन बनकर (अभियन्) शत्रुओं से लड़ता हुआ तू (अयः) उस स्वर्ग (पदार्थ के रहस्य तक) में ले गया ।

उपर्युक्त मन्त्र में इन्द्र को मेध्यातिथि का

वाहन बताया गया है अर्थात् मेध्यातिथि इन्द्र पर सवार होता है। इन्द्र मेष (मेंढा) का रूप धारण करता है। इन्द्र दिव्य मन है और मेध्यातिथि अध्यात्म क्षेत्र में या प्रकृति के क्षेत्र में नये २ अन्वेषण करने वाली मेधाबुद्धि है। यह मेध्यातिथि बुद्धि दिव्य मन पर आरूढ़ हो पदार्थ के रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न करती है। पदार्थ के रहस्यों को छिपाने वाले उसके कई प्रकार के आवरण उसके शत्रु हैं उन शत्रुओं से यह इन्द्र मेष (मिष स्पर्द्धायाम्) मेंढा बनकर लड़ता है। जब वह इन्द्र विजयी हो जाता है तब मेध्यातिथि को पदार्थ का अन्तिम रहस्य (स्वर्ग) जहां है वहां पहुंचा देता है। अर्थात् बुद्धि को अभीष्ट रहस्य का पता चल जाता है। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार की विपत्तियों की परवाह न करके रातदिन ध्येय विषय के चिन्तन आदि में लगा रहता है और धीर बना रहता है तो अन्त में कभी न कभी रहस्य का स्पष्टीकरण अवश्य हो जाता है। अतः दिव्यमन (इन्द्र) को मेष (मेंढा) बनाने की आवश्यकता है। कहा भी है मन के हारे हार है मन के जीते जीत --

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

--०--

गरुड़ और बालखिल्य ऋषि

गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित "आत्म-समर्पण" नामक पुस्तक में सोम पर लिखते हुये "सोमाहरण" प्रकरण में हम विस्तार से यह दर्शा चुके हैं कि द्युलोक से सोम लाने वाला सुपर्ण व श्येन क्या है ? और किस प्रकार वह द्युलोक से सोम लाता है ? श्येन द्वारा यह सोमाहरण प्रक्रिया वेद के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार से दर्शायी गई है। यही सोमाहरण की प्रक्रिया महाभारत में भी कुछ और अधिक विस्तार से तथा अन्य रूप में आती है। महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत आस्तीक पर्व के २० वें अध्याय से विनता और कद्रू का आख्यान प्रारम्भ होता है। अन्य शास्त्रों के कथानकों के सदृश यह कथानक भी शरीरान्तर्गत शक्तियों के रहस्यों को आलंकारिक रूप में वर्णन कर रहा है। सम्पूर्ण कथानक तथा तदन्तर्गत समग्र रहस्यों को तो हम यहां स्पष्ट नहीं करेंगे केवल यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि गरुड़ तथा ऋषि बालखिल्य क्या हैं ? यह सम्पूर्ण कथानक का एक अंशमात्र है। कथानक का तत्सम्बन्धी सार इस प्रकार है—

कश्यप की विनता और कद्रू ये दो पत्नियां थीं। इन दोनों में उच्चैःश्रवा अश्व की पूंछ को लेकर यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि इस अश्व की पूंछ काली है या श्वेत। और शर्त यह ठहरी कि हारने वाली दूसरी की दासी बने। अश्व की पूंछ श्वेत थी, विनता ने वही बताया। कद्रू ने दासी भाव के भय से अपने पुत्र सांपों को आदेश दिया कि तुम जाकर अश्व की पूंछ में लिपट जाओ। इस प्रकार अश्व की पूंछ काली दिखाई देने लगी। इस छल छद्म से विनता हार गई और उसे दासी भाव स्वीकार करना पड़ा। विनता कद्रू को तथा गरुड़ सांपों को वहन करके उनके अभीष्ट स्थानों को ले जाने लगे। कुछ काल पश्चात् दासीभाव से खिन्न हो गरुड़ ने इससे छुटकारे का उपाय पूछा। सांपों ने यह शर्त रक्खी कि द्युलोक से सोम लाकर दो तभी इस दासीभाव से मुक्ति होगी। यह शर्त स्वीकार कर वह विनता पुत्र गरुड़ स्वर्ग से सोम लाने के लिये उड़ान भरता है। जिस समय गरुड़ अपनी माता विनता से विदा लेकर उड़ान भरने की तैय्यारी करता है तो विनता उसके पाथेय रूप में ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य सब को

भक्ष्य रूप में बताती है अर्थात् ब्राह्मण तेरा भक्ष्य नहीं है। उड़ान के समय दो विशालकाय गज और कच्छप परस्पर एक दूसरे से लड़ते हुये मिलते हैं उन दोनों को पंजों से पकड़ खाने के लिये कहां बैठे यह सोच ही रहा था कि रोहिण वृक्ष (पलाश व वट) दृष्टिगोचर हुआ ज्यों ही उस वृक्ष की शाखा पर बैठता है त्यों ही वह शाखा टूट जाती है। उस शाखा के नीचे लटकते हुये बालखिल्य ऋषि तपस्या कर रहे हैं उनके विनाश के भय से वह उस शाखा को मुंह से पकड़ कर उड़ता हुआ अपने पिता कश्यप के पास पहुंचता है और बालखिल्य ऋषियों के विनाश की समस्या सामने प्रस्तुत करता है। कश्यप बालखिल्यों से प्रार्थना करता है कि यह गरुड़ देवकार्य के लिये प्रस्थान कर रहा है आपकी इस पर कृपा दृष्टि हो। बालखिल्य कश्यप की प्रार्थना पर उस शाखा को त्याग कर हिमालय पर तप करने चले जाते हैं। कथानक का यह एक अंश है बीच में कई बातें और भी हैं जो कि हमने छोड़ दी हैं। यह सम्पूर्ण कथानक अध्यात्मशक्तियों का आसुरी शक्तियों से संघर्ष का एक रूपक है।

यह सोमाहरण का कथानक अन्य शास्त्रों मे भी आता है मैत्रायणी आदि संहिताओं तथा शतपथ ब्राह्मण में विनता के स्थान पर सुपर्णी नाम आता है। महाभारत में कद्रू के पुत्र सांप बताये है और विनता का गरुड़ व सुपर्ण। अब हम इस कथानक का संक्षेप में अध्यात्म क्षेत्र में स्पष्टीकरण करते हैं।

कद्रू शरीर का अधोभाग है या अधोभाग से सम्बद्ध है जिसमे कि मल, वासनायें (कत्‌द्रू-द्रवति) आदि दौड़ लगाती रहती है। कद्रू भाग की यह इच्छा रहती है कि किसी तरह से ये भोगवासनायें रूपी सांप अमृत पान कर अमर बन जायें। ये सब बाते हमने विस्तार से "आत्म-समर्पण" नामक पुस्तक मे दर्शा दी हैं। सुपर्णी को महाभारत मे विनता कहा गया है। यह सुपर्णी अर्थात् विनता वाक् है "वागेव सुपर्णीयं कद्रूः" श.प.३।६।२।२ अर्थात् ऊंची उड़ान भरने वाली तथा विनम्र वाक् विनता है। इस विनता वाक् में विद्यमान अग्नि सुपर्ण व गरुड़ है जो कि विनता का पुत्र है। इसे गायत्री कहा गया है जो कि श्येन का रूप धारण कर द्युलोक की ओर उड़ान

भरती है । 'अग्ने सहस्राक्ष, सुपर्णोऽसि गरुत्मान्,' मै.सं. ३।३।६ यह सहस्राक्ष अग्नि याज्ञिक परिभाषा में यागनिर्वाहक चित्याग्नि है जिसे कि पक्षी का आकार दिया गया है इस अग्नि का स्थान ग्रीवा में है। यह अग्नि जब स्वर्ग की ओर उड़ान भरती है तब उसका स्वरूप कैसा होता है यह निम्न मन्त्र में दर्शाया गया है । मन्त्र इस प्रकार है—

नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा । हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् । ऋ. १०।१२३।६ ।

हिरण्यमय पंखों वाले, वरुण के दूत, ऊंची उड़ान भरने में समर्थ भरणपोषण कर्ता तथा यम की योनि (ग्रीवा) में विद्यमान नाक (स्वर्ग) की ओर उड़ान भरते हुए तुझ सुपर्ण को हृदय से तेरी कामना करने वाले योगिजनों ने देखा ।

वेनन्ता-- वेनतेः कान्तिकर्मणः—वेन धातु ज्योतिर्मय दिव्य कामना के लिये आती है ।

शकुनम् – शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम्० निरुक्त– जो किसी ऊंची उड़ान में समर्थ है, ऊंचा नाद वाला है, हीन पतित शब्दों वाला नहीं है ।

भुरण्युम्—भुरण्युर्मिति भर्तेत्येतत् । श. प. ८।६।३।२० ।

यमस्य योनौ—यम की योनि ग्रीवा है । कहा भी है । "अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्" अथर्व. ६।७।१ अर्थात् अग्नि ललाट है और यम कृकाट है । कृकाट गर्दन के पिछले हिस्से को कहते हैं । यह सुपर्ण अग्नि यहीं से उत्पन्न व नियन्त्रित होती है ।

रोहिण (वट) वृक्ष—रोहिण वृक्ष मानव का शरीर है । महाभारत में आता है कि यह गरुड़ अर्थात् वाक्‌रूप सुपर्ण गज और कच्छप को खाने के लिये जिस शाखा पर बैठता है वह शाखा टूट जाती है । वह स्थान ग्रीवा में अन्न प्रणाली और श्वासप्रणाली का मिलन स्थल है । इस वागग्नि द्वारा सामान्य भौतिक अन्न के भक्षण के समय स्वरयन्त्रावरण (Epiglottis) से यह श्वास नलिका ढक जाती है जिससे क्षणभर के लिये उसका शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है । परन्तु योगसाधनों में जब श्वास प्रश्वास बिल्कुल अवरुद्ध हो जाते हैं तब एक प्रकार से चिरकाल तक उसका शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है । इस प्रकार फेफड़ों

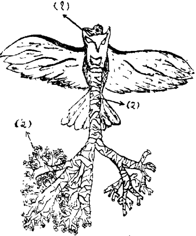
से लेकर ऊपर सारा ट्रेकिया टूटा होता है। यही ट्रेकिया सहित फेफड़ा इस शरीर रूपी वृक्ष की शाखा है।

बालखिल्य

इस शाखा के नीचे बालखिल्य ऋषि लटके हुये तप कर रहे हैं। बालखिल्य प्राण हैं कहा भी है– "प्राणा वै बालखिल्याः" श.प. ८।३।४।१ ये लघुशरीरवाले माने गये हैं। महाभारत में आता है कि कश्यप द्वारा यज्ञ रचे जाने पर समिधा लाने के लिये इन्द्र, बालखिल्य तथा अन्य देवों को नियुक्त किया गया। ये बालखिल्य निराहार होने के कारण मन्द बल वाले हो रहे थे और थे भी छोटे २ शरीर वाले। वहां आता है 'क्लिश्यमानान् मन्दबलान् गोष्पदे संप्लुतोदके" अर्थात् इध्म ले जाते हुए वे जल से परिपूर्ण गोष्पद में डुबकी लगाने लगे। समिधा भी छोटी सी थी। सब मिलकर उसे ही उठा रहे थे। इन्द्र ने इस पर उनकी मजाक उड़ायी – इत्यादि वर्णन वहां आता है। यह सब वर्णन फेफड़ों में ओलवियोलाई का है। इन्हें वायुकोष (Air Cells) भी कहते हैं। इनका उपनलिकाओं से सम्बन्ध होता है ये उपनलिकाएं ही इध्म व समिधाएं हैं। यह प्राण वायु इन (Cells) में डुबकी लगा रही है। इन वायुकोषों के बीच में अत्यन्त सूक्ष्म झिल्ली की

दीवार होती है। इसी को शास्त्रों मे 'वालमात्रा-दसम्भिन्नाः" अर्थात् बाल=वार=दीवार मात्रा से पृथक् है। इस प्रकार अति संक्षेप में गरुड़ और वालखिल्यों को शरीर में स्वरूपनिर्देश किया। चित्र में वह इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

गरुड़



१. वाक्-अग्नि=सुपर्ण (गरुड़)।

२. शाखा–ट्रेकिया तथा उपनलिकायें आदि

३. वालखिल्य=आलवियोलाई (Air Cells)।

स्पृष्टमात्रा तु पद्भ्यां सा गरुडेन बलीयसा ।
अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैनामधारयत् ।।
ऋषयो ह्यत्र लम्बन्ते न हन्यामिति तानृषीन् ।
तपोरतान् लम्बमानान् ब्रह्मर्षीनभिवीक्ष्य सः ।।
तद् विनाशसंत्रासादभिपत्य खगाधिपः ।
शाखामास्येन जग्राह तेषामेवान्ववेक्षया ।।

सप्त-ऋषि

सप्त-ऋषि क्या है ? यह एक विचारणीय विषय है । सृष्टि के आदि युग में उत्पन्न सप्त-ऋषियों को न लेकर हम वेदान्तर्गत सप्तऋषियों के एक विशिष्ट स्वरूप पर ही विचार करते हैं । वेद मे ऋषि तो अनेकों हैं । उनके परस्पर गोत्र-सम्बन्ध व सन्तति-संबन्ध भी पूर्वाचार्यों ने निर्देश किये हैं । पर सप्त-ऋषियों का साहचर्य किस सम्बन्ध को द्योतित करता है, और इस साहचर्य की दृष्टि से उनका वास्तविक स्वरूप व कार्य क्या है यह एक अत्यन्त गहन विषय है । अधिभूत, अधिदैव व अध्यात्मादि तीनों क्षेत्रों में इस पर विचार हो सकता है, पर हम अध्यात्म क्षेत्र मे ही संक्षेप में विचार करने का प्रयत्न करते हैं । सप्त ऋषियों के सबन्ध में एक मन्त्र जो कि इस प्रकार है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।

तदासत ऋषयः सप्तसाक ये अस्य गोपा महतो बभूवुः । अथर्व० १०।८।९

यह एक चमस है जिसका बिल नीचे की

ओर, और मूल ऊपर की ओर है। उसमें विश्वरूप यश भरा पड़ा है। इस चमस में सात ऋषि एक दूसरे के समीप में बैठे हुए हैं जो इसकी सदा रक्षा करते हैं।

यह मन्त्र सौरमण्डल और मानव देह दोनों में घटता है। सौरमण्डल में ऊर्ध्वबुध्न चमस सूर्य है, जिसकी किरणें नीचे की ओर प्रवाहित हो रही हैं। ये सप्तकिरणें सप्तऋषि हैं। शरीर मे प्रतिष्ठित इन सप्त ऋषियों का केन्द्र शरीर का मूर्धा (सिर) है जिसे चमस कहा गया है। इस चमस (सिर) का पृष्ठ ऊपर है और छिद्र नीचे की ओर है। इस छिद्र के द्वारा मूर्धा में भरा हुआ विश्वरूप यश नीचे की ओर प्रवाहित होता है। [1]सप्तऋषि सप्तेन्द्रियां हैं, जो इसमें बैठी हुई इसकी रक्षा कर रही हैं। ये सप्तऋषि दो कान, दो

---

१ सप्त ऋषय प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् यजु० ३४।५५

कः सप्त खानि वितर्दं शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षिणी मुखम् ।। अथर्व १०।२।६

नासाछिद्र, दो चक्षु गोलक, और एक मुख ये है। शतपथ ब्राह्मण (१४।५।२) में इस मूर्धा में रहने वाले ये ही ऋषि बताये गये हैं। और वहां यह कहा गया है कि दो कान गौतम और भारद्वाज है, दो नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, दो आंखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। और मुख अत्रि है। यहां इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि ये कान व नासिकादि के गोलक सप्तऋषि नहीं है, अपितु सिर में विद्यमान इनकी केन्द्रगत शक्ति ऋषि है। परन्तु इस सबन्ध में भी यह विचारणीय है कि क्या सामान्य जन की आंख, नाक, कान, आदि इन्द्रिय शक्तियां ऋषि हैं ? हमारे विचार में ऐसा नहीं है। यदि सभी मनुष्यों को ऐन्द्रियिक शक्तियां ऋषि कहलाने लगे तो सभी पारदृश्वा ऋषि हो जायेंगे। शतपथ ब्राह्मण मे आता है कि सिर१ मे जो सात प्राण है उनके द्वारा जब स्तुति की जाती है तब सप्त-

---

१ य एवेमे सप्तशीर्षन्प्राणास्तैरव तदस्तुवत सप्तर्षयोऽत्रासृज्यन्त। श० प० ८।४।३।६

ऋषि पैदा होते हे। ये इन्द्रियां ऋषि कब बनती हैं? और इनकी कितनी व्यापक शक्तियां हो जाती हे, इसका सुन्दर विवेचन शतपथ ब्राह्मण में है। यह१ चक्षु जब सम्पूर्ण जगत् को देखने लगती है, तब वह जमदग्नि ऋषि कहलाती है। स्वल्प प्रदेश को देखने वाली सामान्य जन की चक्षु इन्द्रिय जमदग्नि ऋषि नहीं है। जब२ श्रोत्र अनन्त दिशाओं को दूरी से शब्द सुन लेता है, और सब ओर से मित्रवाक्यों को ही सुनता है, तब वह विश्वामित्र ऋषि कहलाता है। और वाक्३ विश्वकर्मा ऋषि उस अवस्था में बनती है, जब कि वाणीमात्र के उच्चारण से ही सब कुछ

---

१ चक्षु र्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यति।
शा० प० ८।१।२।३

२ श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनन सर्वत. श्रृणोत्यथो यदस्यै सर्वतोमित्र भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषि। श० प०८।१।२।६

३ वाक वै विश्वकर्मर्षि र्वाचा हीद सर्वं कृतम्।
श०प० ८।१।२।९

उत्पन्न व सम्पन्न हो जावे । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में कहा गया है । इन्द्रियों की इस व्यापक शक्ति को हमने प्रत्यास्य ऋषि के प्रकरण में भी दिखाया है । अब हम यह कह सकते हैं कि इन इन्द्रियों की शक्तियां जब व्यापक हो जाती है, अपने मूलस्रोत के समान बन जाती हैं तभी ये ऋषि कहलाती हैं । एक इन्द्रिय अनेक ऋषि बन सकती है--

शास्त्रों में एक इन्द्रिय को कई-कई ऋषियों के नाम दिये गये हैं । विश्वामित्र वाक् भी है श्रोत्र भी है । भरद्वाज मन भी है और कान भी है । वाक् विश्वामित्र, वसिष्ठ और विश्वकर्मा ऋषि तीनों हैं । इस प्रकार यह इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है कि ऋषि व्यक्ति नहीं हैं । और विशेषकर वेदों में तो ये विभिन्न-विभिन्न गुण व शक्ति आदि के वाचक बने हैं । एक ही इन्द्रिय में कई प्रकार के गुण व अनेकों शक्तियां पैदा हो सकती हैं जिससे कि वह कई नामों से स्मरण की जा सकती है । हां ! इस बात से हम यहां इन्कार नहीं करते कि इन विशिष्ट गुणों व शक्तियों को धारण करने वाले

ऐतिहासिक ऋषि पूर्व में हो चुके है। परन्तु वेदों के ऋषियों पर विचार करने के लिये हमे ऐतिहासिक ऋषि व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं है।

सप्त ऋषि और ब्राह्मी शक्ति

सप्तर्षियों का ब्राह्मी शक्ति से विशेष संबन्ध है। इस संबन्ध में निम्न मन्त्र अवलोकनीय है--

तद्ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उपजीवन्ति ब्रह्म-वर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद।

अथर्व ८।१३।१६,१०।४

अर्थात् सप्तऋषि ब्रह्म और तप से जीवित रहते है। इस तथ्य को जो जानता है, वह ब्रह्मवर्चस्वी और दीर्घजीवी होता है। सप्तऋषि ऐन्द्रियिक शक्तियां है। इनका ब्रह्म और तप क्या है इसको संक्षेप में कहना चाहें तो यह कह सकते है कि "मनश्चेन्द्रियाणां चैकाग्रयं परम तप" मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही उनका परम तप है। और यही ब्रह्मप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। एक और मन्त्र में सप्त ऋषियों के संबन्ध में यह निर्देश हुआ है कि ये सप्तर्षि इस विराट्

को ब्रह्मण्वती रूप में देखते हैं (अथर्व ८।१३।१३) अथर्व में एक और मन्त्र आता है कि--

सप्तर्षीनभ्यावर्ते, ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् । अथर्व १०।५।३९ में सप्तर्षियों के अभिमुख होता हूँ । वे मुझे द्रविण और ब्रह्म-वर्चस्व प्रदान करें । एक मन्त्र है कि--"उस ब्रह्मौदन का बृहस्पति सिर है, ब्रह्म (वेद) मुख है, द्यावा पृथिवी दोनों श्रोत्र है, सूर्य और चन्द्रमा आंखे हैं और सप्तऋषि प्राण अपान हैं (अथर्व ११।३।५) यहां सप्तऋषियों को प्राण और अपान बताया गया है जिस पर कि ब्राह्मी तनु का सम्पूर्ण जीवन आश्रित रहता है ।

ब्रह्मजाया की प्राप्ति में सप्तर्षियों का तप वाञ्छनीय होता है । ब्रह्मजाया क्या है ? इस सबन्ध मे हम विस्तार से तो उसी समय विचार करेंगे जब कि इस सूक्त पर स्वतंत्र रूप से लिखेंगे । परन्तु यहां इतना कहना पर्याप्त है कि यह ब्रह्मजाया मानव स्त्री नहीं है । यह ब्राह्मण में ब्रह्मत्व व ब्राह्मी तनु को उत्पन्न करने वाली वाक् शक्ति है (ब्रह्म जायते यया सा ब्रह्मजाया)

क्योंकि ब्राह्मण में ही यह वाक् शक्ति होती है और उसी में ही यह ब्रह्मत्व स्वाभाविक रूप से जागृत होता है अतः वेद मे इसे ब्राह्मण जाया कह दिया गया है। श्री पं० शिवशंकर शर्मा जी काव्यतीर्थ ने अपने 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' मे "ब्रह्मजाया" के सम्बन्ध में जो विचार अभिव्यक्त किये हैं, वे इसी प्रकार के है। ब्रह्मजाया के सत्य स्वरूप की उपलब्धि में उससे पर्याप्त सहायता मिलती है। सायणाचार्य ने इस ब्रह्मजाया सूक्त के प्रारम्भ में जो इतिहास दिया है वह भी इस तथ्य की ओर निर्देश कर रहा है, वहां आता है कि "जुहुरिति वाङ्नाम। सा ब्रह्मणो जाया च बृहस्पतिर्वाचस्पतित्वाद् बृहस्पतेर्जुहूर्नाम भार्या बभूव। कदाचिदस्य किल्विषमस्या दौर्भाग्यरूपेणऽऽसांचक्रे। अतएव स एनां पर्यत्याक्षीत्। अनन्तरमादित्यादयो देवा मिथो विचार्येनाम-किल्विषां कृत्वा पुनर्बृहस्पतये प्रादुरिति। सायण भाष्य ऋ० १०।१०९।१

ब्रह्मजाया के सम्बन्ध में यह एक संक्षिप्त विवेचन है। यहां ब्रह्मजाया को जुहू नामक वाक्

माना है और बृहस्पति को वाचस्पति। यहां वाक् को जुहू एक विशेष प्रयोजन से कहा गया है और वह यह कि यज्ञ याग में वाणी द्वारा जो आहुति दी जाती है, उसी यज्ञ याग के प्रयोजन से वाक् के जुहू रूप का यहां ग्रहण करना है। इसका भाव यह हुआ कि यज्ञ याग आदि में वाक् को आहुति साधन बनाने और अपने सम्पूर्ण अन्तरंगों को आहुति द्वारा अन्तरग्नि में आहूत करने से ब्राह्मी तनु की उत्पत्ति होती है, ब्रह्मत्व पैदा होता है। अतएव यह वाक् ब्रह्म जाया (ब्रह्म जायते यया सा) कहलाती है।

मनुस्मृति के निम्न श्लोक में भी ब्राह्मी तनु की उत्पत्ति में होम आदि को प्रमुख साधन बताया गया है। यह श्लोक इस प्रकार है—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।

मनु० २।१८

स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रैविद्या, इज्या, सोम सवन, महायज्ञ, यज्ञ आदियों से यह शरीर

ब्राह्मोरूप को धारण करता है ।

यहां पर यज्ञ को हमें व्यापक रूप मे नहीं ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि श्लोक में स्वाध्याय, व्रत व होम आदि का पृथक् ग्रहण हुआ है । इस प्रकार वाक् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से लेकर स्थूल से स्थूल सम्पूर्ण वाक् को हमें आहुति साधन बनाना चाहिये । इससे ब्रह्मत्व की उत्पत्ति होती है । यह वाक् आहुति साधन अर्थात् जुहू बने इसके लिये सप्तर्षियों व सप्तेन्द्रियों को बड़े भारी तप की आवश्यकता है । अब हम मन्त्र का अर्थ प्रस्तुत करते है ।

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः ।

भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् । ऋ० १०।१०९।४

इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है–

(ये सप्तऋषयः तपसे निषेदुः) जो सप्त ऋषि तप करने बैठे 'किस प्रयोजन से' कि सप्तेन्द्रिय सम्बन्धी वाक् जुहू बन जाये । अर्थात्

ब्रह्मजाया की प्राप्ति हो तो (एतस्यां) इस ब्रह्म-जाया के संबन्ध मे (पूर्वे देवा अवदन्त) पूर्व के देवों ने यह कहा कि (ब्राह्मणस्य जाया) ब्राह्मण की यह ब्राह्मी शक्ति (भीमा) भयंकर है। (उपनीता) उपनीत हुई अर्थात् समीप में आयी हुई (परमेव्योमन्) परम व्योम अर्थात् मस्तिष्क में (दुर्धां दधाति) बड़ी कठिनाई से धारण की जाती है।

इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में सप्तर्षियों पर हमने विचार किया और यह देखा कि सामान्य जन की इन्द्रियां सप्तर्षि नहीं हैं। इनमे ऋषित्व की उत्पत्ति की जाती है। ऋषित्व के उत्पन्न होने पर ही ब्रह्मत्व पैदा होता है। और ब्रह्मत्व को पैदा करने वाली ब्राह्मी शक्ति इन सप्तर्षियों के तप के प्रभाव से पैदा होती है।

महाभारत में सप्त-ऋषि

महाभारत अनुशासन पर्व ९३ अध्याय में सप्त ऋषियों के सम्बन्ध में एक कथानक आता है जिसका संक्षिप्त सार निम्न प्रकार है—

किसी वन में अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र तथा जमदग्नि ये सात ऋषि तप कर रहे थे। उनमें अरुन्धती, उनका परिचारक पशुसख तथा उसकी गण्डा नाम की पत्नी भी थी। ये सब समाधि द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति की इच्छा से तप कर रहे थे। पहले कभी शिवि पुत्र वृषादर्भि नामक राजा ने इनसे यज्ञ करवाया था तो दक्षिणा रूप में अपना पुत्र इन ऋषियों को दे दिया था; तब कुछ काल पश्चात् अनावृष्टिजन्य बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। इससे वह राजा का पुत्र मर गया ऋषियों के पास अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए कुछ नहीं था, तब उन्होंने उस बच्चे के शव को पकाना आरम्भ किया। उसी समय बच्चे का पिता वृषादर्भि वहां आ पहुंचा। वृषादर्भि ने उन ऋषियों की दुरवस्था देख कर उनसे प्रतिग्रह के रूप में पृथ्वी, धन, खच्चर गऊवें आदि लेने की प्रार्थना की। इस पर उन ऋषियों ने कहा कि राजाओं का प्रदत्त दान मधुर आस्वाद वाला होते हुए भी विष तुल्य होता है। अतः उन्होंने

लेने से इन्कार कर दिया। ऋषि उस शव को छोड़ कर वन में कन्दमूल, फल की खोज में चले। तब राजा की आज्ञा से मन्त्रियों ने गूलर में स्वर्ण रख कर उन्हें पेश किया। इस पर ऋषियों ने अत्रि द्वारा सचेत किये जाने पर धन्यवाद पूर्वक कहा कि हम पूर्ण जागरूक है हमें ज्ञात है कि इन फलों में स्वर्ण विद्यमान है, इसका मृत्यु के अन्त में दुष्परिणाम होता है। स्वर्ण सहस्त्रों गुणा फल देता है इसकी अत्यधिक इच्छा करने वाला व्यक्ति पापिष्ठों की गति पाता है। व्रीहि, यव, पशु, स्त्रियां आदि ये सब किसी भी मनुष्य को तृप्त करने में असमर्थ हैं। अत. विद्वान् को चाहिए कि वह शान्ति व श्रम का आचरण करे। पुरुष की कामना याचना व प्रार्थनाओं आदि की कोई सीमा व मात्रा नहीं होती। कहा भी है—

न तल्लोके द्रव्यमस्ति यल्लोक प्रति पूरयेत्।
समुद्रकल्पः पुरुषो न कदाचन पूयते॥

अर्थात् लोक में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो कि लोक को भरपूर कर दे। पुरुष समुद्र के तुल्य है यह कभी नहीं भरा जा सकता।

जब मनुष्य की एक कामना पूरी हो जाती है तो स्वतः ही दूसरी कामना उत्पन्न हो जाती है। यह कामनाओं का सिलसिला सामान्य मनुष्य में अनन्त काल तक चालू रहता है कभी भी समाप्त नहीं होता। अत इन कामनाओं की समाप्ति के लिये तपस्या ही एक उपाय है। द्रव्य प्रतिग्रह व संग्रह के विरोध में यह तपस्या मनुष्य मे संयम का पैदा करती है। तपस्या द्वारा उत्पन्न यह संयम रूपी धन एक लोभी ब्राह्मण का विनष्ट हो जाता है। धर्म के लिये द्रव्य सञ्चय की अपेक्षा भी तप व संयम का सञ्चय ही श्रेष्ठ होता है।

इस प्रकार काम, तृष्णा तथा द्रव्य संचय में दोष देख कर उन ऋषियों ने वे फल नहीं लिये और धृतव्रत वे ऋषि वहां से चले गये। इस पर वृषादर्भि राजा ने क्रोध मे आ हवन द्वारा एक कृत्या नाम की राक्षसी को उत्पन्न किया और उसका यातुधानी नाम रक्खा। राजा ने उसे आज्ञा दी कि जाओ सप्त ऋषियों के नाम जान

कर उनको विनष्ट कर दो और तदनन्तर जहां चाहो विचरण करो। वह राक्षसी सप्त ऋषियों के पास गई। सप्त ऋषि उस वन में फल मूल खाते हुए, विचरण करते थे उसी समय उन्होंने रक्तवर्ण के हाथ पैर, मुख वाले तथा पीतोदर स्थूलशरीर वाले परिव्राजक को कुत्ते सहित विचरते हुए देखा। अरुन्धती उस सर्वाङ्ग सुन्दर परिव्राजक को देख कर ऋषियों से बोली कि आप लोग ऐसे नहीं हे। इस पर क्रम से ऋषियों ने य कहना प्रारम्भ किया।

वसिष्ठ=हम इस समय अग्निहोत्र नहीं करते है, सायं-प्रात अग्निहोत्र होना चाहिए। यह अग्निहोत्र करता है अतः पुष्ट है।

अत्रि=क्षुधा के कारण हमारा वीर्य तथा विद्या नष्ट हो चुकी है।

विश्वामित्र=हमारा शास्त्र का अध्ययन जीर्ण शीर्ण हो गया है और हम आलसी हो गये है।

जमदग्नि=वर्ष भर का अन्न और ईंधन की चिन्ता हमें सताती है।

कश्यप=हमारे चारों भाई देहि-देहि करके भीख मांगते रहते हैं, इसके नहीं अत: यह पुष्ट है।

भरद्वाज=भार्या के अपवाद से हमें शोक हुआ है इसे नहीं।

गौतम=हमारा त्रिकौशेय वस्त्र जो कि रंकु मृग चर्म का बना है, पुराना हो गया है। इसका नहीं। इस प्रकार उन ऋषियों ने अपने कृश होने के हेतु बताये।

वह परिव्राजक उन ऋषियों के पास पहुंच कर बोला कि तुम्हारी सेवा करने के लिए आया हूं। तब वन में विचरते हुए उन्होंने स्वच्छ जल वाला तालाब देखा जिसमें कमल खिले हुए थे। उसमें प्रवेश का एक ही द्वार था और उसकी रखवारी यातुधानी राक्षसी कर रही थी।

प्रश्नोत्तर के अनन्तर यातुधानी बोली कि तुम क्षुधार्त्त हो अतः अपना-अपना नाम बोल कर इस सरोवर से बिस ले सकते हो। ऋषि लोग राक्षसी के दुष्ट-भाव को जान गये। उन्होंने

अपना सीधा नाम न बता कर अन्य प्रकार से घुमा फिरा कर बताया। सप्तर्षियों के उन नामों को हम आगे स्पष्ट करेंगे।

सप्तर्षियों के सम्बन्ध मे महाभारत के अन्तर्गत कथानक का सक्षिप्त अंश हमने यहां दर्शाया। यदि समग्र रूप में हम इस कथानक पर दृष्टिपात करें तो यह कथानक आलङ्कारिक प्रतीत होता है। महाभारत की नीलकण्ठीय टीका मे भी इसे आलङ्कारिक रूप दिया गया है। कई आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में भी यह आध्यात्मिक रूप लिये हुए है। हमारे विचार में महाभारत का यह कथानक बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय २ ब्राह्मण २ मे वर्णित मन्त्र का ही विस्तार प्रतीत होता है। अथर्ववेद १०।८।६ मन्त्र में भी इन्हीं सप्तर्षियों की ओर संकेत हुआ है।

अब हम कथानक में आये पात्रों के ऊपर विचार करते हैं--

वृषादर्भि

वृषादर्भि मन है। इसकी इस प्रकार निरुक्ति

की जा सकती है—

वृष ज्ञानवर्षण विषयवर्षणं वा (इन्द्रिय द्वारा) आ समन्तात् दृभयति दृभतीति वा (दृभी ग्रन्थे तुदादि, दृभ सन्दर्भे (गांठना)।

अर्थात् वृषादर्भि मन का वह रूप है जो कि इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञान व विषयों का संग्रह करता है तथा उनका भोग करता है।

वृषादर्भि का पुत्र :—

वृषादर्भि का पुत्र वह शिशु प्राण है जिसका वर्णन बृहदारण्यकोपनिषत् २।२ में किया गया है यह मध्यम प्राण है। सप्तेन्द्रियां (सप्तशीर्षण्य प्राण) बहिर्मुखी हो कर बाह्य जगत् से अन्न लाती हैं और इस शिशु प्राण को प्रदान किया करती है जिससे कि यह वृद्धि को प्राप्त करता है। परन्तु जब इन्द्रियां मुक्त होना चाहती हैं तो उनका बाह्य जगत् से सम्बन्ध छूट जाता है और एक प्रकार से अकाल पड़ जाता है। इस प्रकार बाह्य जगत् का अन्न न मिलने से वृषादर्भि रूपी मन का पुत्र यह शिशु प्राण भूख से

पीड़ित हो मृत्यु को प्राप्त करता है। इस प्रकार वह शिशु प्राण निर्जीव हो जाता है सक्रिय नहीं रहता। एक प्रकार से वह शव रूप है तब वह इन इन्द्रियों की तपस्या रूपी अग्नि में परितप्त होता है। परन्तु तपस्या करते हुए भी बाह्य जगत् के विषयभोग रूपी प्रलोभन बार-बार सामने आते हैं।

वृषादर्भि द्वारा इन इन्द्रिय रूपी सप्तर्षियों को दिए गये प्रलोभन बाह्य जगत् के विषय भोग ही हे। परन्तु जब ये सप्तर्षि इन प्रलोभनों में नहीं फंसते हैं तब कालान्तर में दिव्य भोग सामने आते हैं। ये ही दिव्य भोग उदुम्बर में हिरण्य रख कर उन्हें प्रदान किये गये हैं। प्राय मनुष्य इन दिव्य भोगों में फस जाते है और उनसे वे प्राण की सन्तुष्टि करते है इस प्रकार उनका अधःपतन हो जाता है। परन्तु जब ये इन्द्रियां इन दिव्य भोगों में भी नहीं फसती तब वृषादर्भि द्वारा एक कृत्या उत्पन्न की जाती है जो कि यातु-धानी कहलाती है।

यातुधानी—

यातुधानी का अर्थ है 'यातूनि दधातीति' अर्थात् जो गति (यातु) को धारण करने वाली हैं। ये गतियां निकृष्ट गतियां है। मुक्ति की दृष्टि से इन्द्रियों की बाह्यविषयों के प्रति गतियां निकृष्ट ही कही जासकती है। इन्द्रियों में गति पैदा करने वाली इन इन्द्रियों की अपनी बुभुक्षा होती है। यह बुभुक्षा अग्निहोत्र से उत्पन्न होती है। इन्द्रियां बाह्य जगत् से विषय रूपी आहुति लाकर शरीर के अन्दर होमती रहती है यह उनका अग्नि होत्र है। इससे बुभुक्षा उत्पन्न होती है। यह बुभुक्षा दूसरे शब्द में कामना है, इन्द्रियों के मुक्ति मार्ग में यह कृत्या के समान है।

पद्मिनी—

पद्मिनी शिर में विद्यमान वह सरोवर है जिसके चारों ओर ये सप्तेन्द्रिय रूपी ऋषि अपना-अपना आश्रम बना कर तप कर रहे हैं। इस सरोवर का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषत् २।२ में 'अर्वाग् बिलश्चमस उर्ध्वबुध्नः' मन्त्र द्वारा किया

गया है। इसी सरोवर मे ये ऋषि बिस की इच्छा से डुबकी लगाते हैं।

बिस—

मस्तिष्क मे विद्यमान सहस्रार चक्र (सहस्र-दल पद्म) की नाड़ियों को यहां बिस कहा गया है। ये सप्तेन्द्रिय रूपी ऋषि अन्तर्मुखी अवस्था में इस पद्मिनी में प्रवेश करते हैं और उन नस नाड़ियों मे विद्यमान दिव्य अन्न को भक्षण करने का उपक्रम करते हैं, परन्तु ये उन बिसों का भक्षण कर भी नहीं पाते कि "शुनः सख" नामक इन्द्र उन्हें छिपा देता है।

शुनः सख—

'शुनः सख' इन्द्र है, महाभारत के इसी प्रकरण में स्पष्ट रूप से इसे इन्द्र कहा गया है। इन्द्र दिव्य मन है। मन इन्द्रियों का अधिपति है सामान्य मन वृषादर्भि है जो कि इन्द्रियों को विषयभोगों में लिप्त करता है परन्तु दिव्य मन इन्द्रियों को भोगों से विरक्त करता है। यहां इन्द्र को 'शुनः सख' कहा है। 'शुनः' प्राण

का नाम है अर्थात् यह दिव्य मन दिव्य प्राण से सम्पृक्त है ।

कुत्ता—

इस इन्द्र के साथ एक कुत्ता है । यह पाप व दिव्यता को सूंघने की दिव्य शक्ति है । अर्थात् गुफा में प्रच्छन्न रूप में विद्यमान वृत्र बल व पणि आदियों का यह ऐन्द्रियिक दिव्य शक्ति पता लगा लेती है । गौ रूपी दिव्य शक्तियां कहां पर विद्यमान हैं यह ज्ञात कर लेती है । इन्द्रियों की अन्तर्मुखी अवस्था में यह प्राण शक्ति प्रादुर्भूत होती है ।

अब हम अत्रि आदि सप्त ऋषियों के सम्बन्ध में विचार करते हैं ।

१ अत्रि

१—अत्रि मुखस्थ प्राण है 'अद्भक्षणे' धातु से इसकी निष्पत्ति की गई है । मुखस्थ प्राण के मुख्य रूप से दो कार्य होते हैं एक अन्न भक्षण करना और दूसरा स्वाध्याय करना, । ये ही दोनों कार्य महाभारतान्तर्गत कथानक में पठित श्लोकों द्वारा अभिव्यक्त किए गये हैं यथा—

नैतस्येह यथाऽस्माकं क्षुधा वीर्यं समाहृतम् ।
कृच्छ्राधीतं प्रनष्टं च तेन पीवान् शुना सह ।।

भूख से वीर्य अर्थात् शक्ति का क्षय होना तथा कष्टाधिक्य से अधीत विद्या का विनाश होना । ये दोनों बातें इस तथ्य की ओर निर्देश कर रही हैं कि यह अत्रि प्राण मुखस्थ प्राण है । अब हम इन दो कार्यों को दृष्टि में रख कर अत्रि सम्बन्धी उस श्लोक की निरुक्तियों का विवेचन करते हैं जो कि यातुधानी के प्रश्न करने पर कही गई है ।

अरात्रिरत्रि. सा रात्रियां नाधीतेऽत्रिरद्य वै ।
अरात्रिरत्रिरित्येव नाम मे विद्धि शोभने ।।

अर्थात् अत्रि प्राण वह है जिसमें अरात्रिः रात्रि नहीं है अन्धकार नहीं है । रात्रि उसी समय होती है जबकी अध्ययन नहीं करता है । अर्थात् बौद्धिक कार्य नहीं होता है ।

अरात्रिः अद्य वै—

अद्य यहां वर्तमान के अर्थ में आया है । वर्त्तमान काल में ही अत्रि प्राण की सत्ता है क्योंकि जब

भी मुख से अध्ययन होगा वह वर्त्तमान काल ही होगा। अतः भूत व भविष्य की दृष्टि से अत्रि प्राण नहीं है। और फिर रात्रि में सोते हुए मुख बन्द होता है। इस समय न तो अन्नभक्षण का कार्य होता है और नाहीं अध्ययन होता है।

अरात्रि के और भी अर्थ है--रात्रिः रमणात् अर्थात् इसमें रमण नहीं है रति व रमण के समय अध्ययन व ज्ञान आदि समाप्त हो जाता है--दूसरे रति अर्थात् सम्भोग के समय मुख स्वतः बन्द हो जाता है।

२ वसिष्ठ—

वसिष्ठ ऋषि के सम्बन्ध में श. प. ८।१।१।६ में आता है कि "प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः" अर्थात् प्राण वसिष्ठ ऋषि है। इस सम्बन्ध मे हमारा विचार यह है कि सब के प्राण वसिष्ठ नहीं होते। कौन सा प्राण वसिष्ठ है इसका समाधान स्वयं शतपथ ब्राह्मण में किया गया है। वहां आता है कि "यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः" श. प.

८।१।१।६ अर्थात् प्राणों में श्रेष्ठ प्राण वसिष्ठ है जो कि वस्तुतम अर्थात् सर्वोत्तम वास का हेतु है, जिसके कारण शरीर मे जीव का सुन्दर रूप मे वास होता है वह प्राण वसिष्ठ है । इसी दृष्टि से महाभारत के निम्न श्लोक को पढ़ना चाहिए ।

वसिष्ठोऽस्मि वरिष्ठोऽस्मि वसे वासगृहेष्वपि ।
वसिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धिमाम् ।।

हे यातुधानि ! मे वस्तुतम अर्थात् सर्वोत्तम वासहेतु हूं, सर्वश्रेष्ठ हू, शरीरान्तर्गत सभी वास-स्थानों में वसता हूं, अन्यों का वासहेतु तथा स्वय बसने के कारण मुझे वसिष्ठ जानो ।

३. कश्यप

बाह्य सौर जगत् में सूर्य से निकल कर त्रैलोक्य मे व्याप्त होने वाला सौर प्राण ही कश्यप है । यह सूर्य कश्यप रूप में परिणत हो कर प्रजा का निर्माण करता है । परन्तु हमें यहां अध्यात्म क्षेत्र में कश्यप के स्वरूप को देखना है । तै. आ. १।७ में आता है कि सिर के ये सप्त प्राण कश्यप से ज्योति प्राप्त करते हैं । ये सप्त-

प्र ण सप्त रश्मियां हैं, इन्हें ही सप्तसूर्य या सप्तर्षि कहते हैं । तै. आ. १।८ में आता है कि 'कश्यपादुदिताः सूर्या.' अर्थात् कश्यप से ये सप्त सूर्य उदित होते हैं । प्रश्न यह पैदा होता है कि कश्यप क्या है ? इस सम्बन्ध मे वहां आता है कि 'कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्व परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात् तै. आ. १।८ अर्थात् पश्यक ही कश्यप है क्यों कि यह सूक्ष्म रूप होने से सब को देखता है । इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि मस्तिष्क की वह बौद्धिक दिव्य शक्ति कश्यप है जिसके जागृत होने पर सब इन्द्रियां सूक्ष्म जगत् के दर्शन करने वाली बन जाती हैं । जब मनुष्य में कश्यप शक्ति अर्थात् सूक्ष्म-दर्शन शक्ति जागृत हो जाती है तब वह यह देख लेता है कि अमुक कर्म से अमुक फल प्राप्त होता है । देव मनुष्य आदि उत्कृष्ट योनियां तथा पाप कर्म द्वारा कृमि कीट व स्थावर आदि निकृष्ट योनियां किन कर्मों से प्राप्त होती हैं यह वह जान जाता है ऐसी अवस्था में वह पाप में प्रवृत्त नहीं होता । इसी दृष्टि से तै आ. १।८ में कहा कि 'अपेतं

मृत्युं जयति य एव वेद स खल्वेवंविद्ब्राह्मणः दीर्घश्रुत्तमो भवति कश्यपस्यातिथिः सिद्धगमन. सिद्धागमन । तै आ. १।७

अर्थात् जो कश्यप सम्बन्धी रहस्य को जानता हो वह अपमृत्यु अर्थात् अपकृष्ट निकृष्ट मृत्यु को जीत लेता है इस रहस्य का ज्ञाता ब्राह्मण दीर्घश्रुत्तम माना गया है । ऐसे दीर्घश्रुत्तम ब्राह्मण का कश्यप शक्ति के प्रति गमनागमन सिद्ध होता है अर्थात् वह अन्तर्निहित कश्यप तक पहुंचने में समर्थ होता है । अब हम महाभारत का वह कश्यप सम्बन्धी श्लोक दर्शाते हैं--

कुलं कुलं कुवम कुवमः कश्यपो द्विजः ।
काश्य. काशनिकाशत्वादेतन्मे नाम धारय ।।

कुल कुलम् = प्रति प्राणि, प्रति शरीर प्रतीन्द्रियं वा ।

कुवमः = कौ पृथिव्यां शरीरे वा वमति, वर्षति, सिञ्चति उद्गिरति वा । आदित्यः, सूक्ष्मः बुद्धिसूर्यश्च ।

द्विजः = द्वितीयं जन्म यस्य सः ।

अध्यात्म पक्ष में सामान्य बुद्धि-सूर्य कश्यप और द्विज नहो है, प्रयत्न व साधना से इस बुद्धिसूर्य का द्वितीय जन्म अर्थात् दिव्य जन्म होता है। यह शरीरान्तर्गत सूक्ष्म से भी सूक्ष्म स्थानों व शक्तियों को देख लेता है।

काश्य —कशामर्हन्ति ते कश्याः अश्वाः इन्द्रियाणि वा तत्र भवः। कश्यानि इन्द्रियाणि पातीति कश्यपः

काशनिकाशत्वात्—काश सदृश शुभ्र नाडी।

४. जमदग्नि

जमदग्नि प्रज्वलित अग्नि वाले को कहते हैं। नि. ७ अ. २४ ख० में इस पद की निरुक्ति निम्न प्रकार की है—"जमदग्नयः प्रजमितग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा" अर्थात् प्रकृष्ट गति वाली अग्नि से युक्त अथवा प्रज्वलित अग्नि से युक्त को जमदग्नि कहते हैं। श प. ८।१।२।३ में चक्षु को जमदग्नि ऋषि बताया है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि चक्षु इन्द्रिय में जब प्रकृष्ट गति होती है और अग्नि प्रकृष्ट ज्वलन वाली होती

है तब वह चक्षु जमदग्नि नाम से कही जाती है। चक्षु में ज्योति का न होना अथवा निकृष्ट अश्लील दर्शन वाली होना जमदग्नि का रूप नहीं है। वैसे मन के साथ सभी इन्द्रियों का सम्बन्ध है पर चक्षु इन्द्रिय तो मन का ही बाह्य रूप है, इसी दृष्टि से शास्त्रों मे चक्षु का मन के साथ विहार बताया है (ऐ. ब्रा. ६।२।२४)। यह विषय हम "वैदिक अध्यात्म विद्या" मे दर्शा चुके हैं। किसी भी व्यक्ति के चक्षुओं को दख कर उसके मन का स्वरूप व स्तर जाना जा सकता है। अतः चक्षु में जमदग्नि का रूप तभी प्रकट होता है जब मानसिक यज्ञस्थली मे अग्नि खूब प्रज्वलित होती है। मानस की चक्षु सम्बन्धी प्रदीप्त अग्नि जमदग्नि ऋषि है। इस दृष्टि से महाभारत के निम्न श्लोक में जमदग्नि का स्वरूप देखा जा सकता है--श्लोक इस प्रकार है--

जाजमद्यजजानेऽहं जिजाहीह जिजायिषि।
जमदग्निरिति ख्यातस्ततो मां विद्धि शोभने।।

जाजमद्यजजाने--

भूयो भूयोऽतिशयेन जमन्ति यस्मिन् (अग्नौ) ते जाजमन्तो देवास्तेषां यजनं संगठनं यत्र तत्--जाजमद्यजम् देवसदनं यज्ञस्थलो वा तत्र देव-सदने जानः प्रादुर्भावो यस्याग्नेस्तस्मिन् यज्ञाग्नौ जाजमद्यजजानेऽहं जिजायिषि पुनः पुनः जनयामि।

अर्थात् जिस अग्नि में देवता लोग बार-बार अतिशय रूप में, आहुति रूप होम द्रव्य को जीमते हैं वे जाजमन्त देव कहलाते हैं, ये देव जहां एकत्रित हो कर यज्ञ रचते हैं उस यज्ञस्थली में जो अग्नि प्रादुर्भूत होती है वह जमदग्नि नाम से कही जाती है। अध्यात्म क्षेत्र में सामान्य भाषा में हम इसे यूं प्रकट कर सकते हैं कि जब व्यक्ति के मन में सदा दिव्य भाव उठते हैं, आसुरी व पाप वृत्तियों

---

१. भूयो भूयोऽतिशयेन जमन्ति युगपदेनेकेषु यज्ञादिष्वनेकवारं पुनः पुनर्भक्षयन्ति हवींषि ते जाजमन्तो देवाः। जमुभक्षणे यङ्लुकि शत्रन्तस्य रूपम् इज्यन्ते देवता अस्मिन् इति यजो ऽग्निः। तेषां जानन्नाविर्भावस्तस्मिन् जिजायिषि जातोऽस्मि। नील कण्ठीय टीका

का आगार न बन सदा देवों का सदन बना रहता है ऐसे मन में जो अग्नि प्रज्वलित होती है और दिव्यदर्शन-शक्ति से जिसका सम्बन्ध होता है वह जमदग्नि ऋषि कहलाती है ।

५. भरद्वाज

नि० ३।३।१७ में आता है कि 'भरणात् भारद्वाजः' अर्थात् भरण करने के कारण भारद्वाज नाम पड़ा है । श. प. ८।१।१।९ में आता है कि "मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः"

यह मन ही भरद्वाज ऋषि है । अन्न वाज रूप होता है । यह वाज मन को थामता है उसका भरण पोषण करता है । इस कारण यह मन भरद्वाज ऋषि नाम से कहा जाता है ।

यहां मन की वाज शक्ति अर्थात् वेगयुक्त शक्ति की ओर निर्देश किया गया है । ऐसे वाज सम्पन्न व्यक्ति अपने आश्रितों तथा अन्यों का भरण पोषण करने में समर्थ होते हैं । इसी दृष्टि से निम्न श्लोक को पढ़िए--

भरेऽसुतान् भरे शिष्यान् भरे देवान् भरे द्विजान्
भरे भार्यां भरे द्वाजं भरद्वाजोऽस्मि शोभने ॥

हे शोभने ! जो मेरे अपने पुत्र नहीं हैं उनका भी मैं भरण पोषण करता हूं । शिष्यों, देवों, द्विजों का भरण करता हूं । भार्या का भी मैं भरण पोषण करने वाला हूं । तथा द्वाज का भरण पोषण करता हूं अर्थात् उस अन्न का जिस का पिता द्युलोक है पृथ्वी माता है दूसरा उदर में पहुंच कर उदर–अग्नि पिता बनती है इस उदाराग्नि द्वारा भक्षित अन्न से रस, रक्त आदि का निर्माण होता है। यहां मन रूपी भर- द्वाज का क्षेत्र आजाता है। इस प्रकार अन्न सेउत्पन्न रस रक्त आदि 'द्वाज'=द्वाभ्यां जातः कहलाते है । ऐसे अन्नादि का मैं धारण करता हूं । इसलिए हे शोभने । मुझे भरद्वाज जानो !

६. 'गोतम'

गोतम को कई रूपों में देखा जा सकता है । अतिशय स्तुति करने वाले को गोतम कहते हैं। 'गौ' के पृथ्वी, वाणी, रश्मि आदि कई

अर्थ है । गौ का अर्थ इन्द्रिय भी है । अब महाभारत के श्लोक का इन्द्रिय की दृष्टि से अर्थ देखिए :—

गोदमो दमतोऽधूमोऽदमस्ते समदर्शनात् ।
विद्धि मां गौतमं कृत्ये यातुधानि निबोध माम् ।

हे यातुधानि ! मैं इन्द्रियों का दमन करने वाला हूं । इन्द्रियों के दमन करने से मैं वासना के धूम से रहित हो गया हूं । और समदर्शी होने के कारण हे कृत्ये । मैं तुझ से अदम्य हूं । अतः इन सब बातों से तू मुझे गौतम समझ ।

'धूम' वासना की अग्नि से उत्पन्न होता है । धूम अवस्था में मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों पर धुंधला आवरण आजाता है । इन्द्रियों को विषयों में न जाने देकर उनका दमन करने से 'अधूम' अवस्था पैदा होती है । समदर्शी होने पर भी यही अधूम अवस्था उत्पन्न होती है । अतः गौतम शक्ति इन्द्रियों को दमन करने वाली होती है ।

७ 'विश्वामित्र'

नि. २।७।२४ में आता है "विश्वामित्रः सर्वमित्रः" विश्वामित्र अर्थात् सबका मित्र । "विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद । ऐ. ब्रा. ६।२० विश्व के मित्र को विश्वामित्र कहते हैं और ऐसे व्यक्ति के सब मित्र होते हैं इसी दृष्टि से महाभारत के निम्न श्लोक का अर्थ देखिये—

विश्वे देवाश्च मे मित्रं मित्रमस्मि गवांस्तथा ।
विश्वामित्रमिति ख्यातं यातुधानि निबोध माम् ।।

सब देव मेरे मित्र हैं और सब गौओं का मै मित्र हूं । हे यातुधानि ! इसी कारण मै विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हूं ।

८ अरुन्धती

अरुन्धती वसिष्ठ की पत्नी मानी जाती है। परन्तु कुछ स्थलों में सामान्य रूप में इसे

ऋषियों की पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है। उदाहरणार्थ तै. ग्रा. ३।९।२ में ग्राता है कि 'ऋषीणामरुन्धती' ग्रर्थात् ग्ररुन्धती ऋषियों की पत्नी है। यहां महाभारत के इस प्रकरण में सप्तर्षियों के साथ एक ग्ररुन्धती का ही नामोल्लेख हुग्रा है। इससे यह ज्ञात होता है कि यहां ग्ररुन्धती केवल वसिष्ठ ऋषि की ही पत्नी नहीं है ग्रपितु ग्रन्य सब ऋषियों की भी पत्नी मानी गई है। जैसा कि हम ऊपर सप्तऋषियों के सम्बन्ध में दर्शा चुके हैं कि ये सप्तर्षि शरीर के ही विभिन्न प्राण हैं, उसी प्रकार यह ग्ररुन्धती भी शरीरान्तर्गत कोई शक्ति होनी चाहिए। वेदों में भी प्रायः ग्रथर्ववेद में ही इसका ग्रधिक वर्णन है। ग्रथर्ववेद में यह ग्रपने बाह्य भौतिक रूप में एक बूटी-विशेष है। ग्रध्यात्म क्षेत्र में शरीरान्तर्गत क्या हो सकती है यह एक ग्रन्वेषण का विषय है। ग्ररुन्धती को पत्नी मानने वाले इसकी व्युत्पत्ति नहीं करते है, परन्तु यदि इसकी व्युत्पत्ति की

जाए तो वह इस प्रकार हो सकती है। "अरूषि मर्मस्थानानि दधातीति" अर्थात् यह अरुन्धती शरीर के मर्म स्थानों को धारण करने वाली है। महाभारत की नीलकण्ठीय टीका में निम्न निरुक्ति आती है–अरुषोऽति कठिनान् धरादीन् दधाति' मनुष्य के जीवन मे ये मर्मस्थल अतिनिर्णायक कार्य वाले होते हे। इन मर्मस्थलों पर प्रहार होने पर मनुष्य के प्राण पखेरू उड़ जाते हे अत. इस दृष्टि से अन्य ऋषियों की पत्नी होते हुए भी सर्वोत्तम वास हेतु वसिष्ठ प्राण को यह शक्ति है जिसे कि आलंकारिक भाषा मे पत्नी कह दिया गया है। अन्य ऋषि भी प्राण के हो विविध रूप है अतः उनकी भी यह पत्नी कही जा सकती है।

पश्चात कालीन् योग सम्बन्धी उपनिषदों में अरुन्धती को सरस्वती अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी कहा गया है। योगकुण्डल्युपनिषत् १।९ में आता है कि--

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्यैव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ॥

अर्थात् पुरा काल के विद्वानो ने अरुन्धती को सरस्वती माना है । यह सरस्वती सुषुम्ना नाड़ी है । वेदों मे भी सरस्वती व वसिष्ठ का पारस्परिक सम्बन्ध कई मन्त्रों में दर्शाया गया है । वह सब हम यहां न दिखा कर महाभारत के तत्सम्बन्धी श्लोक को यहां दर्शाते हैं ।

धरान् धरित्रीं वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम् ।
मनोऽरुन्धती भर्तुरिति मां विद्धयरुन्धतीम् ।।

इस श्लोक का महाभारत की नीलकण्ठीय टीका मे यह अर्थ किया गया है कि--

धरान् पर्वतान् धरित्रीं भुव वसून् देवान् धत्ते इति व्युत्पत्या वसुधां दिव च तिष्ठामि अधितिष्ठामि तत्र हेतुः--भर्तुर्वसिष्ठस्यानन्तरमव्यवधानेन मनो अनुरुन्धतीति । अरुषोतिकठिनान् धरादीन् दधातीत्यरुन्धतीति ।

पशुसख

इन्द्रियों में जो पशुभाव है उसका सखा अर्थात्

उस पशुत्व की पूर्ति करने वाला प्राण पशुसख है।

गण्डा

यह भी मुख में रहने वाली पशुसख प्राण को उत्पन्न तथा, प्रवृद्ध करने वाली शक्ति हो सकती है। इसी लिये इस 'वक्तैकदेशे' वक्त अर्थात् मुख के एक देश में रहने वाली कहा है।

ऋभु देवता : एक सम्मति

मुझे श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत ऋभुदेवता नामक ग्रन्थ अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पंडित जी ने बड़े परिश्रम से ऋभुदेवता के विषय में जो अन्वेषण किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। इस समय आर्यसमाज में अन्वेषणात्मक वैदिक ग्रन्थों की कमी है जिसे इस प्रकार के ग्रन्थ ही पूरा कर सकते हैं। मुझे आशा है कि पंडित भगवद्दत्त जी इसी दिशा में और भी ग्रन्थ लिखेंगे जिससे आर्यसामाजिक जगत् को उनकी विद्वत्ता से और अधिक लाभ पहुंचे। वेद सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिये इसी प्रकार के अन्वेषण को प्रोत्साहन देना आर्यसमाज के अधिकारियों का विशेष कर्तव्य है।

सत्यव्रत
मुख्याधिष्ठाता
सन् १९४० गुरुकुल कांगड़ी

ऋभु देवता : एक सम्मति

श्री पं० भगवद्दत्त वेदालंकार जी की 'ऋभु देवता' नामक पुस्तक पढ कर मुझे प्रसन्नता हुई। यह खोज और परिश्रम के साथ लिखी गयी पुस्तक है। इस देवता के अभिप्राय को निश्चित करने मे चाहे आगे हमे कुछ और भी वक्तव्य हो, पर इस देवता के विषय मे सब सामग्री जुटा देने मे तथा उसका उत्तम उपयोग करने में श्री पं० भगवद्दत्त जी अवश्य सफल हुवे है। वेद संबन्धी ऐसी पुस्तकों की ही विशेष आवश्यकता है। लेखक भविष्य में वेद विषय मे और अधिकाधिक उपयोगी काम कर सकें ऐसी कामना करता हूं।

पांडिचेरी — अभय

१३-१२-४०